चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला

४

विचार और विवेचन

लेखक :

डॉ० वामन केशव लेले

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

चौखम्बा राष्ट्रभारती ग्रन्थमाला

४

विचार और विवेचन

लेखक :

डॉ० वामन केशव लेले

एम्. ए., पीएच्. डी.

मराठी का प्रपाठक,

भारतीय भाषा विभाग, कलासंकाय,

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक :

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन, पो. बा. नं० १२९,

वाराणसी-२२१००१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण १९७९

C. V. Bhawan
Rs. 24/-

अन्य प्राप्तिस्थान :-

चौखम्बा विद्याभवन

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे)

पो० बा० नं० ६९, वाराणसी-२२१००१

मुद्रक :

ना० बा० म्हसकर,

ज्योतिष प्रकाश प्रेस,

कालभैरव मार्ग,

वाराणसी-२२१००१

पण्डितप्रवर आचार्य बलदेव उपाध्याय जी को

अत्यादरपूर्वक समर्पित

प्रास्ताविक

यह निबन्धसङ्ग्रह पाठकों के हाथों में देते हुए मुझे बहुत हर्ष हो रहा है। मैंने विगत बीस-बाईस वर्षों में विविध मराठी पत्रपत्रिकाओं में लगभग चालीस निबन्ध लिखे हैं। उनमें से कतिपय निबन्धों को मेरे सुहृद्वर पं० वासुदेव द्विवेदी शास्त्री ने कुतूहलपूर्वक पढ़ा। उन्हें वे बहुत पसन्द आये। उन्होंने यह मनीषा व्यक्त की कि, उन निबन्धों का मैं हिन्दी में अनुवाद कर उन्हें शीघ्र ही प्रकाशित करूँ। तदनुसार मैंने कतिपय निबन्धों का चयन कर उनका अनुवादकार्य आरम्भ किया और मुद्रण का भी प्रबन्ध कर लिया। इसी उद्यम का फल प्रस्तुत निबन्धसङ्ग्रह है। इस प्रकार पं० द्विवेदी शास्त्री प्रस्तुत पुस्तक के अनुप्रेरक हैं।

मैंने प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र एवं भारतीय शास्त्रग्रन्थों के लेखन का तन्त्र इन विषयों पर विशेष रूप से विचार किया है। उसी विचार का यथामति विवेचन करने का विनम्र प्रयास इस पुस्तक में संगृहित निबन्धों में किया हुआ है। यदि मेरे विचार विद्वान् एवं मर्मज्ञ पाठकों को ध्यान देने योग्य प्रतीत होते हैं, तो मैं अपने प्रयास को सफल समझूँगा।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अपनी 'विद्वत्त्वपूर्ण शोधकार्य एवं विद्यावारिधि उपाधि के लिए प्रस्तुत शोधप्रबन्धोंका प्रकाशन--Publication of Learned Research Work including Doctoral Theses' योजना के अन्तर्गत प्रस्तुत पुस्तक के प्रकाशन हेतु रु० २८४४-६७ पैसे का उदार अनुदान दिया है। एतदर्थ मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का अत्यन्त आभारी हूँ।

इस पुस्तक की सिद्धि तथा इसके प्रकाशन के विषय में मेरे ज्येष्ठ हितैषी डॉ० हरिकृष्ण माधव दातार ने प्रारम्भ से ही बहुत आस्था प्रदर्शित की। इस पुस्तक का मुद्रण विशुद्ध एवं सुन्दर होकर शीघ्रातिशीघ्र सम्पन्न हो, इस लिए उन्होंने मेरी प्रभूत सहायता की, जिसके लिए मैं उनका बहुत ऋणी हूँ।

मुद्रकों ने भी अल्पावधि में मुद्रणकार्य को पूर्ण किया जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

आशा है, विचक्षण एवं विद्वान् पाठक मेरी इस छोटी-सी कृति का यथोचित स्वागत एवं परामर्श करेंगे।

वाराणसी, १ मार्च, १९७९ **डॉ० वा० के० लेले**

अनुक्रम

साहित्यकारों के मौन में साहित्यसौन्दर्य	१- ९
काव्य की सरसता शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ या कविनिष्ठ ?	१०- १६
प्राचीन शास्त्रग्रंथों की रचनाशैली	१७- २८
प्राचीन साहित्यिक वाद	२९- ३७
भाविक अलंकार	३८- ४७
राजशेखरवर्णित कवियों के प्रकार	४८- ६२
क्या 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम था ?	६३- ७३
काव्यशास्त्रकार वामन का मौलिक चिन्तन	७४- ८५
आचार्य भामह और साहित्यसमीक्षा के मूलतत्त्व	८६-१०३
दण्डीका 'काव्यलक्षण' : एक अध्ययन	१०४-११९
क्षेमेन्द्र की समीक्षाशैली	१२०-१२८
भाषिक समस्या : शोध तथा बोध	१२९--१४९
संस्कृत काव्यशास्त्रविषयक एक समस्या	१५०-१५४

साहित्यकारों के मौन में साहित्यसौन्दर्य

मानव जीवन में भाषा का महत्त्व—

विभिन्न विचारकों ने आज तक मनुष्य का लक्षण भिन्न-भिन्न शब्दों में किया हुआ है। किन्तु, उन सभी लक्षणों में 'मनुष्य एक बोलता प्राणी है' यह लक्षण अत्यन्त समीचीन प्रतीत होता है। मनुष्य के जीवन में वाणी अर्थात् बोलने की शक्ति का बड़ा ही महत्त्व है, इतना कि यदि मानव जीवन से इस शक्ति को पृथक् किया जाए तो मानव जीवन अर्थविहीन एवं अपूर्ण हो जाएगा। मनुष्य रातदिन अपने सारे व्यवहारों एवं कार्यकलापों को वाणी की सहायता से ही सम्पन्न करता है। जब उसे प्यास या भूख लगती है, तब वह शब्दों के उच्चारण से ही अपनी प्यास या भूख को प्रकट करता है। यदि उसके मस्तिष्क में कोई विचार आता है, तो उसकी अभिव्यक्ति भी शब्दों के द्वारा ही होती है। वह अपने सुखदु:खादि भावों को भी भाषा के माध्यम से ही प्रकट करता है। अर्थात्, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, मनुष्य के विचार, कल्पना, भाव, व्यवहार, संकल्प, शोध आदि सभी कार्य भाषा पर ही अवलंबित होते हैं। मानव छोटा हो या बड़ा, विद्वान् हो या मूर्ख, सामान्य लेखक हो अथवा विश्वविख्यात विद्वान् अन्वेषक, इन सभी को अपने-अपने व्यवहार के लिए वाणी की शरण लेनी ही पड़ती है। भाषा के इस मानवीय सार्वभौम महत्त्व को मान्य करते हुए आचार्य दण्डी ने निम्न मार्मिक पंक्तियाँ लिखीं हैं—

"इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते ॥"[१]-काव्यलक्षणम् १/४

अर्थात्-'यदि यह शब्द (अर्थात् वाणी या भाषा) नामकी ज्योति सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित न करे तो स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल घने अन्धकार में डूब जाएँगे।' इससे यह स्पष्ट होता है कि, भाषा समस्त जगत् को बोध के द्वारा प्रकाशित करने वाली एक अमोघ एवं ज्वलन्त शक्ति है।

जीवन में मौन का महत्त्व—

मानव जीवन में भावरूप पदार्थों (positive entities) का जितना महत्त्व है, अभावरूप पदार्थों का भी उतना ही है। यदि इस धरातल पर अहोरात्र प्रकाश ही रहा होता, तो मनुष्य को उसकी अपूर्वता सम्भवतः प्रतीत न हुई होती। अतः अन्धकार के कारण ही प्रकाश के महत्त्व को मानव मान्य करता है। इसी प्रकार मानव जीवन में भाषा

का जितना महत्त्व है, उतना ही महत्त्व भाषा के अभाव का अर्थात् मौन का भी है। मानव के जीवन में ऐसे अनेक प्रसङ्ग आते हैं, जब वह बिल्कुल अवाक् हो जाता है। उसके मुख से एक भी शब्द नहीं निकलता, नहीं निकल सकता। इस सत्य का हम सभी अनुभव करते हैं। जब मनुष्य का मन आनन्द से ओतप्रोत होता है, तब वह आनन्दातिशय बिना शब्दोच्चारण के ही अभिव्यक्त होता है। उसी प्रकार जब मनुष्य का मन दुःख या निराशा से अभिव्याप्त हो जाता है, तब उसकी वाणी पूर्णतया शान्त-सी हो जाती है। सङ्कोच, विनम्रता, लज्जा, आदि भाव मनुष्य की जीभ को मानो लगाम लगाते हैं। तात्पर्य, मनुष्य अपने मन में उत्पन्न होने वाले आनन्द, दुःख, लज्जा, भय, विस्मय, सङ्कोच, कृतज्ञता, आदि उत्कट भावों को निःशब्द होकर ही प्रकट करता है। ऐसे अवसरों पर मनुष्य अपने हाथ, पाँव, होंठ, आँखें आदि अवयवों के सूक्ष्म एवं भावदर्शक व्यापार करता है या आँखों से आँसुओं को बहाता है। यह सत्य है कि, प्रत्येक व्यक्ति की इन भावों के प्रकटन की पद्धति भिन्न होती है, किन्तु इसके साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि, ऐसे भावों की उत्कटता के समय मनुष्य सामान्यतया मुख से नहीं बोलता, मौन से बोलता है। साहित्यकारों को अपने काव्य, उपन्यास, नाटक, कथा आदि में मानव के मन तथा जीवन का वास्तविक एवं सूक्ष्म दर्शन कराना पड़ता है। इस लिए वे मानव मन एवं जीवन के उपर्युक्त वैशिष्ट्य को निरीक्षण एवं परीक्षण पूर्वक समझ कर उस यथार्थ ज्ञान की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में प्रचुर मात्रा में करते हैं। ऐसी अभिव्यक्ति की प्रथा साहित्य में प्राचीन समय से ही प्रचलित है। उसी प्रथा की कुछ झलकियाँ प्रस्तुत निबन्ध में दिखाई गयी हैं।

दशरथ का मौन

वाल्मीकीय रामायण में, राजा दशरथ की प्रतिक्रिया के हृदयस्पर्शी प्रसंग की ओर हम प्रथमतः ध्यान देंगे। प्रसंग अयोध्या-काण्ड का है। राम के राज्याभिषेक के समय पर रानी कैकेयी ने दो वर माँग कर राज्याभिषेक को रोक दिया। इसको सूचित करने के लिए दशरथ ने राम को बुलवाया। राम घोड़े पर सवार होकर कुछ ही क्षणों में अन्तःपुर में आ पहुँचा। उसने वहाँ पहुँचते ही अपने पिता को दुःखित, दीन एवं निस्तेज पाया। दशरथ कैकेयी के साथ पलङ्ग पर बैठे हुए थे। राम ने पहले अपने पूज्य पिताजी का सादर चरणस्पर्श किया और तदन्तर अपनी सौतेली माता कैकेयी का भी शान्त मन से अभिवादन किया। तब दशरथ ने राम को कैकेयी के वर की बात सुनाई। राम के होनेवाले वियोग से असहाय दशरथ का हृदय विदीर्ण हो गया था। वे शोक एवं सन्ताप से नितान्त व्याकुल थे। ऐसी स्थिति में उनके मुख से शब्द निकलना सम्भव नहीं था। वाल्मीकि महर्षि ने भी दशरथ के इस स्वाभाविक 'मौन' का वर्णन बड़े ही प्रभावशाली शब्दों में किया है—

'रामेत्युक्त्वा तु वचनं बाष्पपर्याकुलेक्षणः ।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥" अयोध्याकाण्ड १८/३

अर्थात्, 'दशरथ केवल 'राम' शब्द कहकर मौन हुए । उनकी आँखों में अश्रु थे और वे बहुत ही दु:खित थे, फलस्वरूप वे राम से कुछ बोल भी न सके और उसकी ओर देख भी न सके ।' मानो राम का वियोग उन्हें इसी समय हो गया है । उनका वत्सल हृदय भावि वियोग के भान से द्रवीभूत हो गया था । और इसी अत्यधिक दु:ख के कारण वे बोलने में असमर्थ थे । महर्षि वाल्मीकि ने दशरथ की इस मन:स्थिति को भलीभाँति समझ कर मौन को समर्थ एवं साभिप्राय शब्दों के द्वारा उक्त पद्य में मुखरित किया है । यदि महर्षि वाल्मीकि उक्त पद्य के स्थान पर दशरथ के मुख से कुछ कहलवाते तो इस सम्पूर्ण भावोत्कट प्रसङ्ग की हृद्यता ही समाप्त हो गई होती । यहाँ जो उत्कट काव्य सौन्दर्य की प्रतीति होती है, वह शब्द प्रयोग के अभाव से होती है, न तु शब्द प्रयोग के भाव से ।

राम का सूचक मौन

रामायण पर ही आधृत एक संस्कृत नाटक के एक सरस प्रसङ्ग का अब परामर्श करेंगे । कालिदास से पहले भास नामक एक संस्कृत नाटककार हुआ । उसने जो अनेक नाटक लिखे उनमें से एक 'प्रतिमा' नाटक है । इस नाटक का द्वितीय अङ्क आद्योपान्त करुणरसपूर्ण है । उस अंक में ऐसा वर्णन है कि, पुत्रों के वियोग के कारण व्यथित राजा दशरथ कौसल्या एवं सुमित्रा के साथ बातें कर रहा है । दशरथ द्वारा राम वन में भेजा गया है । राम के साथ सीता एवं लक्ष्मण भी हैं । उनको नगरी की सीमा तक पहुँचाने के लिए सुमन्त्र गया हुआ है । वह राम, सीता एवं लक्ष्मण को वन में पहुँचा कर अयोध्या लौट आता है । तब राजा दशरथ अधीर होकर और अपनी प्राणशक्ति को बटोर कर सुमन्त्र से पूछता है—'सुमन्त्र ! मुझ जैसे अभागी पिता को मेरे पुत्रों एवं बहू ने कोई सन्देश भेजा है ? (उन सबका वन में जाना सभी लोगों के शोक का कारण हुआ है । मानो दशरथ इस प्रश्न का उत्तर सुनकर रामादिकों की अप्रत्यक्ष भेंट के सुख का अनुभव करना चाहता है ।) दशरथ के ये वचन किसी भी सहृदय व्यक्ति के मन को मोम की तरह पिघलाने वाले हैं । सुमन्त्र के मुख में नाटककार भास ने जिन शब्दों की योजना की है, वे शब्द न केवल करुणरसपूर्ण हैं, बल्कि नाटककार की मार्मिकता के अच्छे परिचायक भी हैं । भास का सुमन्त्र दशरथ से कहता है—

'शृङ्गवेरपुरे रथादवतीर्य अयोध्याभिमुखाः स्थित्वा सर्व एव महाराजं शिरसा प्रणम्य विज्ञापयितुमारब्धाः ।

कमप्यर्थं चिरं ध्यात्वा वक्तुं प्रस्फुरिताधराः ।
बाष्पस्तम्भितकण्ठत्वादनुक्त्वैव वनं गताः ॥" [प्रतिमानाटकम् अंक २]

अर्थात् - 'हम सब लोग शृंगवेर नगरी में पहुँच गये। वहाँ राम, लक्ष्मण एवं सीता रथ से नीचे उतरे और अयोध्या की ओर मुँह कर खड़े हुए। उन्होंने सिर झुका कर महाराज को प्रणाम किया और कुछ कहने-बोलने हेतु मुख को खोला। किन्तु, हाय ! उनका गला भर आने के कारण वे एक शब्द तक न बोल सके और कुछ कहे बिना ही अरण्य में चले गए।'

यहाँ वर्णित पात्रों का मौन बहुत ही मुखर है। कारण तीनों व्यक्तियों के मन में अनेक प्रसंग तरंगित हो उठे थे। उन्हें अनेक सुख दुःखों के आभास हो रहे थे, माता-पिताओं की यादें हो आईं थीं, और अन्तःकरण में अनगिनत स्मृतियाँ ऊर्मित हो रहीं थीं। तथापि, उन्होंने सन्देश भेजने हेतु मुख को खोलने का प्रयास किया, किन्तु वे असफल हुए। उनके मन दुःख से नितान्त व्यथित थे जिसके फलस्वरूप उनकी आँखें अश्रुओं से भर गयीं और वे बिना किसी शब्दोच्चारण के वन में चल पड़े। उस भावविभोर स्थिति में उनके मुख से एक भी अक्षर न निकलना नितान्त स्वाभाविक था। यद्यपि वे कुछ भी नहीं बोले, न बोल सके, फिर भी वे सब कुछ सूचित कर गये। उनके इस 'मौन' का कविकृत वर्णन पढ़ते-सुनते ही सहृदय पाठक का हृदय गद्गद् हो उठता है। यही है कवि के निःशब्द काव्य (अर्थात् मौन) का प्रभाव !

सीता का लज्जाजनित मौन

रामायण में भावमधुर एवं कोमल प्रसङ्ग अनेक हैं। उनका मध्य युग के भारतीय कवियों ने अपनी कृतियों में पूर्णतया उपयोग कर उनकी भावसुन्दरता को अपनी प्रतिभा की सहायता से प्रचुर मात्रा में बढ़ाया है। अब हम इसी प्रकार के एक सौन्दर्य स्थल का रसास्वादन करेंगे। संस्कृत भाषा में 'हनूमन्नाटक' नामक प्रचण्ड नाटक है। उसके रचयिता ने वनवासी राम के जीवन के एक प्रसंग का बड़ा ही भावपूर्ण शब्दांकन किया है। प्रसंग ऐसा है कि, राम, लक्ष्मण और सीता वन में घूम रहे हैं। गरमी के दिन हैं। सूर्य की प्रखर किरणों से सभी चराचर सृष्टि सन्तप्त है। चलने के श्रम से सीता क्लान्त हो गयी है। 'और कितना चलना है ?' वह राम से बार-बार पूछती है। सीता के वचन सुनकर राम दुःखी हो जाते हैं। वे उसे कहते हैं, 'तुम जंगल में कैसी चल सकोगी ? घर में घूमते समय भी तुम थक जाती थी। यहाँ पगपग पर नदियाँ पार करनी पड़ती हैं, गड्ढ़ों तथा काटेदार वृक्षों से अपने को बचाना पड़ता है।' ऐसा कहते हुए वे आगे बढ़ ही रहे हैं। इतने में उस जंगल से गुजरने वाली कुछ ग्रामीण स्त्रियों की दृष्टि राम और सीता पर पड़ती है। उनके मन में कुतूहल जाग उठता है। वे राम और सीता के परस्पर सम्बन्ध के विषय में आपस में चर्चा करने लगती हैं। उनमें से एक वृध्दा सीता को अपने नज़दीक बुलाकर पूछती है—

"पथि पथिकवधूभिः सादरं पृच्छ्यमाना
कुवलयदलनीलः कोऽयमार्ये तवेति।
स्मितविकसितगण्डं व्रीडविभ्रान्तनेत्रम्
मुखमवनमयन्ती स्पष्टमाचष्ट सीता॥" हनूमन्नाटक ३/१५

अर्थात्—"मार्ग से गुजरने वाली स्त्रियों ने बड़े आदर भाव से सीता से पूछा, 'बेटी, नीले कमलों के समान आँखों वाला यह युवक तुम्हारा कौन है ?' उसपर सीता ने मन्द हास्य किया, जिससे उसके गाल मानो फूल गये। उसकी आँखों में लज्जा चमक उठी। उसने अपना मुख किंचित् नीचे झुकाया और बस ! उसी अंगविक्षेप मात्र से सब कुछ स्पष्टता से कह डाला।"

वस्तुतः उन पथिक स्त्रियों के प्रश्न से ही सीता के मन में पतिविषयक अभिमान एवं आनन्द का भाव उछल रहा था। उसका आनन्द स्मित के रूप में प्रकट हुआ। उसके गाल लज्जा से आरक्त हो गये। मानो लज्जाभाव उसके नेत्रों में न समाया जिससे नेत्र विलोल नर्तन करने लगे। सीता उन पान्थ स्त्रियों से मानो कहना चाहती थी, 'बहनों, जिस भद्र पुरुष के विषय में तुम पूछ रही हो, वह मेरा प्राणनाथ है। उसका मुझे बहुत अभिमान है।' किन्तु सीता आर्य स्त्री होने के कारण विनयवती थी। इसलिए उसने लज्जा से अपना मस्तक नीचे झुकाया और उतनी ही शारीरिक हलचल के द्वारा मनोगत भावों को शब्दोच्चारण के बिना ही अभिव्यक्त किया। सीता वास्तव में कुछ भी नहीं बोली, फिर भी सब कुछ कह गई। आखिर सीता कहती भी क्या और समान शील महिलाओं को विस्तार से कहने की आवश्यकता भी क्या थी ? वे स्त्रियाँ सीता के मौन से ही सब कुछ समझ गईं। यहाँ के सीता के 'मौन' के वर्णन का माधुर्य शब्दातीत है। कविकृत इस वर्णन में एक भी शब्द न न्यून है, न अधिक। मानो अंग्रेजी कवि बायरन् द्वारा

'One shade the more, one ray the less
Had half impair'd the nameless grace'

इन पंक्तियों में प्रतिपादित सुन्दरता के आदर्श का सरस एवं उत्कट नमूना ही है।

इन्दुमती का मधुर मौन

साहित्यकार के 'अकथित शब्दों' में रहने वाले सौन्दर्य का और एक मनोरम आविष्कार देखें। कालिदास के 'रघुवंश' नामक महाकाव्य में संख्यातीत सरस एवं रमणीय प्रसङ्ग हैं। उनमें इन्दुमती-स्वयंवर का प्रसङ्ग अपना विशेष महत्त्व रखता है। इसका वर्णन उक्त काव्य के षष्ठ सर्ग में पाया जाता है। इन्दुमती कुलीन, शालीन, एवं

मितभाषिणी रूपमती है। उसके स्वयंवर के लिए परन्तप, अङ्गराज, प्रतीप, सुषेण आदि अनेक राजा तथा राजपुत्र आये हुए हैं। इन्दुमती जयमाला लिए हुए तैयार हो जाती है। उसकी सखी सुनन्दा उसे हरेक राजा के समक्ष प्रस्तुत कर उस राजा के विभव, कुल, शील, स्वभाव, पराक्रम, राज्यविस्तार आदि का विवरण चतुरता एवं प्रगल्भता से सुनाती है और उसके विषय में इन्दुमती से पूछती है, 'क्या यह तुम्हें पसन्द है ?' इस प्रकार स्वयंवर का समारोह चालू रहता है। इन्दुमती अजको ही वरना चाहती है, इसलिए वह परन्तप, अङ्गराज, अवन्तिनाथ, प्रतीप, सुषेण, हेमाङ्गद, पाण्ड्य आदि सभी राजाओं का अस्वीकार करती है, स्पष्ट शब्दों में नहीं किन्तु मौन रहकर या किंचित् अंगविक्षेप से। उदाहरण के लिए, **'ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा।'** (रघुवंशम् ६.२५), **'अथाङ्गराजादवतार्य चक्षुर्याहीति जन्यामवदत्कुमारी।'** (तत्रैव ६.३०), **'बबन्ध सा····न भावम्।'** (तत्रैव६.३६), **'तस्या···न स····रुचये बभूव।'** (तत्रैव, ६.४४), **नृपं तं···सा व्यत्यगात्····।'** (तत्रैव ६.५२), **'तस्मादपावर्तत···।'** (तत्रैव, ६.५८), **'स्वसुर्विदर्भाधिपतेस्तदीयो लेभेऽन्तरं चेतसि नोपदेशः।'** (तत्रैव ६.६६)। कालिदास की मुग्ध एवं चतुर इन्दुमती अन्य राजाओं का अस्वीकार जिस मौन से करती है, अज का स्वीकार भी उसी मौन से ही करती है, यह विशेष ध्यान देने योग्य है। वाक्चतुरा सुनन्दा इन्दुमती को अन्त में अज राजा के सम्मुख ले आती है और अज के प्रसिध्द वंश, उसके पूर्वजों का पराक्रम, उनको इन्द्र के दरबार में प्राप्त मानसम्मान, उनके द्वारा किये गये यज्ञयाग, उनका प्रजाहितप्रद शासन, दानधर्म, उनके विनयादि गुण आदि बातों का मनमोहक शब्दचित्र खींचती है। उसको अपनी मानस चक्षुओं द्वारा देख कर इन्दुमती अपने स्वाभाविक लज्जा भाव को कुछ क्षण के लिए दूर रखती है, और प्रसन्न दृष्टि से अज का स्वीकार करती है (**"ततः सुनन्दावचनावसाने लज्जां तनूकृत्य नरेन्द्रकन्या। दृष्ट्या प्रसादामलया कुमारं प्रत्यग्रहीत् संवरणस्रजेव॥"** – (तत्रैव ६.८०), किन्तु वह बहुत ही शालीन होने के कारण अपनी अजविषयक अनुरक्ति स्पष्ट शब्दों में बोल नहीं सकती है (**'सा यूनि तस्मिन्नभिलाषबन्धं शशाक शालीनतया न वक्तुम्।'** – (तत्रैव ६.८१) फिर भी उसकी अनुरक्ति रोमाञ्चों के द्वारा व्यक्त हो ही जाती है (**'रोमाञ्चलक्ष्येण स गात्रयष्टिं भित्त्वा निराक्रामदरालकेश्याः।'**–(तत्रैव ६.८१)। इन्दुमती की उस प्रणयविध्द स्थिति को देखकर चतुर एवं नटखट सुनन्दा उसे कहती है, 'बहन, इस राजा की ओर इस प्रकार देख क्यों रही हो ? आगे और भी राजा बैठे हुए हैं। क्या हम लोग आगे न बढ़ें ? (**'आर्ये व्रजामोऽन्यतः।'**—तत्रैव ६.८२)। इन्दुमती अज को छोड़कर किसी और राजा के समक्ष जाना नहीं चाहती है, न उसकी ओर देखना चाहती है, या न उसका यशोगान ही सुनना चाहती है। इस लिए सुनन्दा के उक्त प्रस्ताव पर अपनी विम-

नम्रता शब्दों से नहीं किन्तु रोषपूर्ण कटाक्ष मात्र से प्रकट करती है ('वधूरसूयाकुटिलं ददर्श ।' तत्रैव ६/८२)। हर्षविभोर इन्दुमती मानो सुनन्दा से कह रही है, 'ए नटखट, तुम्हारे इस विनोदसे मैं विद्ध हो गयी हूँ। देख, तन तथा मन दोनों इस अज के चरणों के दासानुदास बन गये हैं। नहीं, मैं कदापि आगे नहीं जाऊंगी। जानती हो न, मैंने अपने प्राणनाथ को पाया है।' कालिदास की इन्दुमती की मुग्ध मूकता से ही इस प्रसङ्ग की मनोहारिणी मुग्धता बनी रह पायी है, ऐसा ही सहृदय पाठक सहर्ष कहेगा।

नाना फड़नवीस की मूक कृति

अब तक संस्कृत काव्यनाटकों के प्रसङ्गों पर विचार किया। अब एक मराठी नाटक के प्रसङ्ग का परामर्श करेंगे। साहित्यकार किस भाषा में लिखता है, यह बात मूलतः गौण है। क्यों कि, प्रत्येक साहित्यकार का, वह देशी हो या विदेशी, अंग्रेजी में लिखने वाला हो या किसी भारतीय भाषा में, वह प्राचीन हो या अर्वाचीन, शब्द तथा अर्थ के वास्तविक सहभाव की सहायता से सौन्दर्य का निर्माण करना ही उद्देश्य होता है। श्रेष्ठ एवं सरस साहित्य वस्तुतः भाषाविशेषनिरपेक्ष होता है (इसी लिए आनन्दवर्धन-मम्मटादि प्राचीन आचार्यों ने काव्यशास्त्र के सिद्धान्तों तथा नियमों की चर्चा करते समय संस्कृत के साथ-साथ प्राकृत के पद्यों का भी उद्धरणपूर्वक परामर्श किया है।) इस निबन्ध में तो 'निःशब्द मौन सौन्दर्यनिर्माण' की चर्चा चल रही है, इस लिए इस चर्चा के सन्दर्भ में साहित्यकृति की भाषा का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः किसी भी भाषा की साहित्यकृति का उदाहरण विचारयोग्य हो सकता है। इस दृष्टि से 'तोतयाचे वंड' नामक प्रसिद्ध मराठी नाटक के एक प्रवेश की चर्चा करें।

उक्त प्रवेश का थोड़ा पूर्वापर सन्दर्भ समझ लेना आवश्यक है। पानिपत के ऐतिहासिक युद्ध में भाऊसाहब पेशवा अदृश्य हो जाते हैं। उनकी साध्वी पत्नी का इस बात पर विश्वास नहीं होता है। उसकी यह दृढ़ धारणा है कि मेरे पतिदेव जीवित हैं। किन्तु राज्य के फड़नवीस महत्त्वाकांक्षी होने के कारण अपने हाथ में सत्ता रखना चाहते हैं। उधर सुखनिधान नामका एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण अपने को भाऊसाहब बतलाता है और पेशवाओं की गद्दी पर कब्जा करने की इच्छा रखता है। किन्तु, फड़नवीस उसको अच्छी तरह पहचानते हैं और उसे गिरफ्तार कर कारागृह में रख देते हैं। कारागृह के अधिकारी रामचन्द्र नाईक को ऐसा आभास होता है कि, सुखनिधान सचमुच ही भाऊसाहब पेशवा हैं और उनको अन्याय से कारागृह में बन्द कर दिया गया है। इस लिए वह फड़नवीस की अनुमति के बिना ही सुखनिधान को कारागृह से मुक्त कर देता है। फड़नवीस को जब यह विदित होता है तब वह अत्यन्त क्रोधित होते हैं। रामचन्द्र नाईक फड़नवीस को प्रणाम कर जब उनके सम्मुख खड़ा होता है तब फड़नवीस बिना

एक शब्द कहे घूमकर खड़े हो जाते हैं। उन दोनों की भेंट का वर्णन नाटककार न०चिं केलकर जी ने बड़े नाट्यपूर्ण ढंग से किया है। नाटककार लिखते हैं— "फड़नवीस-कौन, किलेदार ? (किलेदार रामचन्द्र नाईक प्रणाम करता है, उसका स्वीकार न कर फड़नवीस किलेदार को पीठ दिखाकर खड़े रहते हैं।)"[२] यहाँ नाटककारने फड़नवीस के अभिनय के विषयमें प्रकोष्ठ में एक सूचना मात्र दी है। किन्तु यह अभिनयविषयक सूचना बड़ी ही स्फोटक है। फड़नवीस अपने अल्प अंगविक्षेप के द्वारा मनोगत क्रोध, नाराजगी, घृणा आदि भावों को प्रभावी ढंग से प्रदर्शित करते हैं। नाना फड़नवीस का यह मौन कटु शब्दों से कोटिगुणित दाहक है। इस अंगविक्षेप (निःशब्द काव्य) का प्रभाव प्रेक्षकों पर बहुत ही गम्भीर पड़ता है।

उपसंहार

उपर्युक्त विवेचन से और तत्समर्थनार्थ दिये गये उदाहरणों से प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय सिद्ध हो जाता है। इस विवेचन का तात्पर्य यह है कि, अच्छा साहित्यकार शब्दों के प्रयोग के द्वारा जिस प्रभावशाली साहित्य का निर्माण करता है, उससे कहीं अधिक प्रभावशाली साहित्य का निर्माण शब्दप्रयोग को टालकर करता है। अच्छे साहित्यकार को शब्दों की महिमा जितनी विदित रहती है, उतनी ही मौन की। किं बहुना, उसकी यह पक्की धारणा होती है कि, साहित्य कृति के विशिष्ट प्रसङ्गों में 'भाषा' को हेतुपूर्वक टालकर 'मौन' का आश्रय करना ही सरस सौन्दर्य को अधिक आविष्कृत करता है। नवीन, अप्रगल्भ साहित्यकार शुरू-शुरू में 'वाणी' का प्रयोग प्रचुर मात्रा में करता है। किन्तु, मानवीय मन तथा जीवन का उसका निरीक्षण जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, उसकी कल्पनाशक्ति का जैसे-जैसे विकास होता है, और उसकी बुद्धि जैसे-जैसे परिपक्व होती है, वैसे-वैसे वह वाणी का उपयोग सीमित करने लगता है। उसे साहित्य के अनुक्त अंश में निहित सौन्दर्य का सूक्ष्म बोध होता है, जो उत्तरोत्तर प्रगल्भ बनता जाता है। जब यह बोध या प्रतिभान प्रगल्भतम होता है, तब साहित्यकार कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक साहित्य-सौन्दर्य का निर्माण करने लगता है और इसी प्रकार का साहित्य अभिनव, रमणीय एवं सरस होता है। ऐसा ही साहित्य मुक्तान्वित शुक्ति की तेजस्विता को धारण करता है। और ऐसे ही साहित्य के प्रेक्षण, पठन या श्रवण से सहृदय को उत्कट, निस्संग एवं अमिश्र आह्लाद की प्राप्ति होती है। अत एव जो साहित्यकार 'वाणी' तथा 'मौन' की शक्ति, युक्ति एवं मुक्ति को भली-भाँति जानता है, वही है मर्मज्ञ एवं रसज्ञ 'वाक्पति' !

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१—दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधम् काव्यलक्षणम् रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया टीकया समलङ्कृतम्, संस्कर्ता-अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र उपाध्याय, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा, १९५७

२—न० चिं० केलकर, **तोतयाचें बंड**, पुणे, सहावी आवृत्ती, १९६०, पृ० ६०

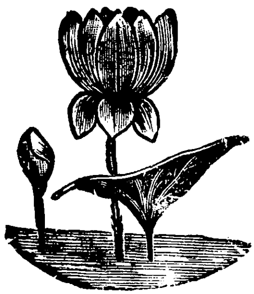

काव्यकी सरसता शब्दनिष्ठ, अर्थनिष्ठ या कविनिष्ठ ?

मध्ययुग के साहित्यिक वाद

ईसवीय नवम शताब्दी के अन्तिम[1] तथा दशम शताब्दी के आदिम[2] चरण में राजशेखर नाम का एक प्रतिभाशाली काव्यतत्त्वविमर्शक हुआ। उसने 'काव्यमीमांसा' नामक एक अपूर्व[3] ग्रन्थ का प्रणयन किया है। उस ग्रन्थ में ग्रन्थकारने काव्यविद्या के अंगोपांग, शास्त्र एवं काव्य के अन्योन्यसम्बन्ध, काव्यविद्या की प्राचीनता, कविशिष्यों के भेदोपभेद, काव्य के प्रेरणास्रोत, काव्यपरीक्षा की पद्धति, काव्यगत संकेत आदि अनेक विषयों का परामर्श करते हुए निम्नलिखित अनेक साहित्यिक वादों की विवेचना भी की है। उदाहरण के लिए, क्या काव्य के निर्माण में कवि की मानसिक एकाग्रता मुख्य रूप से साधक होती है या नहीं ?[४] सारस्वत तथा आभ्यासिक कवियों को काव्य के रचनातन्त्र का ज्ञान आवश्यक है या नहीं ?[५] व्युत्पत्ति क्या है—बहुज्ञता या उचितानुचितविवेक ?[६] क्या प्रतिभा श्रेयसी है या व्युत्पत्ति श्रेयसी ?[७] काव्य की परिपक्वता का लक्षण क्या है—परिणाम, शब्दों की दृढ़ता या सहृदयों की अभिरुचि ?[८] काव्यगत वर्णन सच होते हैं या झूठ होते हैं ?[९] क्या काव्यगत विचार एवं कल्पनाएँ अनीतिपोषक होने के कारण काव्य का निर्माण तथा पठन-पाठन करें या न करें ?[१०] क्या काव्यगत अर्थ सदभिरुचि के विरुद्ध होता है या नहीं ?[११] काव्यविद्या की सच्ची सामग्री क्या है—कवि का निवास स्थान, उसके सेवक एवं मित्र, लेखन साहित्य या प्रतिभा ?[१२] कवि समय अलौकिक तथा अशास्त्रीय होने से सदोष होता है या निर्दोष ?[१३] आदि विवाद्य विषय परिगणित किये जा सकते हैं।

उक्त वादविषयों के अतिरिक्त राजशेखर ने काव्य की सरसता शब्दों पर, अर्थ पर अथवा कविस्वभाव पर अवलम्बित होती है, इस महत्त्वपूर्ण वादविषय का भी सर्वाङ्गीण विवेचन प्रस्तुत किया है। उसी का विशेष रूप से अनुशीलन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

रस एवं वर्णन

राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' के नवम अध्याय के आरम्भ में काव्यगत अर्थ के सात भेद, काव्यगत वर्णनों का प्रतिभा-सरूपत्व आदि विषयों का सोदाहरण निरूपण करने के पश्चात् उक्त वादविषय का इस प्रकार उद्घाटन किया है—

"अस्तु नाम निःसीमार्थसार्थः। किन्तु रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य" इति आपराजितिः । यदाह—

मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्याचन्द्रोदयादिवाक्यमिह ।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥
यस्तु सरिदद्रिसागरपुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः ।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥[१४]

अर्थात्—"काव्यगत कल्पनारूप एवं भावनारूप अर्थ भले ही अमर्यादित हो, उसका सरस होना परमावश्यक है, नीरस होना नहीं ।" ऐसा अपराजित पुत्र का दृढ़ मत है । इस सन्दर्भ में ऐसा कहा गया है कि, जलक्रीड़ा, पुष्पावचय, सन्ध्यासमय, चन्द्रोदय आदि का जो वर्णन काव्य में किया जाता है, वह सरस होने पर भी अपरिमित न हो । इस प्रकार ऐसा वर्णन काव्यगत रस के प्रतिकूल न होकर अनुकूल हो । नदी, पर्वत, समुद्र, नगर, घोड़े, रथ, आदि के वर्णन का कवि-प्रयत्न उसकी काव्यरचना-शक्ति का परिचायक एवं प्रसिद्धिजनक होता है । मर्मज्ञ, विचक्षण विद्वान् ऐसे प्रयत्न को स्तुत्य एवं स्पृहणीय नहीं समझते ।"

रसवत्ता शब्दों में होती है, न कि अर्थ में।

उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट होता है कि, काव्यगत विविध वर्णन गौण होकर उनमें भावपरिपोष ही प्रधान होता है । और उस भाव का भी आपराजिति के अनुसार सौन्दर्य सम्पन्न तथा आल्हाददायक होना अनिवार्य है । यह आग्रहपूर्ण विचारधारा राजशेखर को अभिसम्मत थी ।[१५] लेकिन अपनी इस सम्मति को प्रकट करते हुए उसने निम्न-लिखित अनुभवसिद्ध तथ्य को प्रतिपादित किया है—

"अस्ति चानुभूयमानो रसस्यानुगुणो विगुणश्चार्थः, काव्ये तु कविवचनानि रसयन्ति विरसयन्ति च नार्थाः, अन्वयव्यतिरेकाभ्यां चेदमुपलभ्यते ॥"[१६]

अर्थात्- 'ऐसा अनुभव होता है कि, काव्यगत कोई अर्थ रस के अनुकूल होता है, तो दूसरा कोई अर्थ प्रतिकूल होता है । सच कहा जाए तो काव्यगत सरसता कवि की उक्ति के कारण समुत्पन्न होती है, न कि अर्थ के कारण । तथा च काव्यास्वाद से सहृदय को जिस नीरसता का अनुभव यदि कहीं होता भी है, तो वह कविद्वारा प्रयुक्त शब्दों के कारण होता है, न कि अर्थ के कारण । और यह सत्य अन्वय एवं व्यतिरेक से भी ज्ञात होता है ।"

तात्पर्य यह है कि, काव्यविषय अपने आपमें न सरस होता है, न नीरस। किन्तु कवि के शब्द ही सरस या नीरस होते हैं। कोई प्रतिभासम्पन्न कवि किसी सामान्य या क्षुद्र विषय का भी सरस शब्दों में वर्णन कर सकता है, तो कोई प्रतिभाहीन कवि स्वभावतः सरस होने वाले विषय को भी बिल्कुल नीरस शब्दों में प्रस्तुत करता है। अपने इस मन्तव्य के स्पष्टीकरण के लिए राजशेखर ने नदी, पर्वत एवं समुद्र के सरस वर्णन-परक तीन श्लोक उद्धृत किये हैं, जिनके भावार्थ क्रमशः इस प्रकार हैं—

नदीवर्णन—हे सुन्दरि, समुद्र को मिलने वाली ताम्रपर्णी नदी की ओर देख। सीपियों के सम्पुट से निकाले गये जिसके (इसके) जलकण सुन्दरियों के विशाल स्तनतटों पर मोतियों के हार के रूप में शोभा पाते हैं।[१७]

पर्वतवर्णन— हे हरिणाक्षि, ये मलयपर्वत की अधीत्यकामें बहनेवाली नदियों की वे तीरभूमियाँ हैं जो भगवान् कामदेव की प्यारी होकर उसके धनुष चलानेका अभ्यास करने का स्थान है। इन तीरदेशों में चकोराङ्गनाएँ काली रातों में अन्धकार का पान करके खुली चोंचों को ऊपर की ओर किये हुए मोतीसी शुभ्र चाँदनी को गट-गट करके पीती हैं।[१८]

सागर वर्णन—मदिरा जो अभिलषित प्रियतम के सम्मिलन से होने वाले हर्ष के कारण मृगलोचनाओं कौ विविध हाव, भाव, क्रीड़ा आदि सिखाती है, चन्द्रिका से आर्द्र आकाश जो दम्पतियों के प्रणयकलह को दूर करने में समर्थ होता है, अमृत जिससे देवताओं की यौवनावस्था स्थायी होती है और लक्ष्मी जो समस्त भूमि आदि सम्पत्तियों में प्रधान मानी जाती है। यें सब समुद्र की सुन्दर चेष्टा के फल हैं।[१९]

राजशेखर ने विप्रलम्भ श्रृंगार के वर्णन की सरसता[२०] का भी इसी प्रकारसे एक उदाहरण प्रस्तुत किया है और तत्पश्चात् अपना अन्तिम अभिप्राय निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया है—

"कुकविर्विप्रलम्भेऽपि रसवत्तां निरस्यति।
अस्तु वस्तुषु मा वा भूत्कविवाचि रसः स्थितः॥"[२१]

अर्थात्—'विप्रलंभ श्रृंगार के वर्णन में रसवत्ता का होना परमावश्यक है। फिर भी कोई दरिद्र कवि उस वर्णन को भी नीरस कर डालता है। इस लिए काव्य के लिए स्वीकृत विषय में सौन्दर्य हो या न हो, वह कवि के वर्णन में अवश्य होना चाहिए।'

इससे यह निष्पन्न होता है कि, राजशेखर का यह आग्रह है कि, कवि के शब्दों में सरसता अवश्य होनी चाहिए।

रसवत्ता कविस्वभाव में होती है।

राजशेखर की उपरिवर्णित वैचारिक भूमिका से पाल्यकीर्ति नामक किसी जैन आचार्य का मतभेद है। पाल्यकीर्ति ने अपना भिन्न मत इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं, वक्तृप्रकृतिविशेषायत्ता तु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति त विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते' इति पाल्यकीर्तिः ।।"[२२]

अर्थात्—'काव्य के लिए स्वीकृत विषय भले ही कैसा भी हो, (अर्थात् सरस या नीरस), काव्यगत सरसता कविस्वभाव की विशेषताओं पर निर्भर होती है (अर्थात् यदि कविस्वभावमें सरसता होती है तो वह कविरचित काव्यमें आती है लेकिन यदि कविका स्वभाव नीरस होता है तो कविनिर्मित काव्य भी नीरस होता है।) जैसे, किसी वस्तु पर आसक्त कोई पुरुष उस वस्तु की प्रशंसा करता है, विरक्त पुरुष उसी वस्तु की निन्दा करता है तो आसक्तिविरक्तिरहित तटस्थ पुरुष उस वस्तु के विषय में उदासीन रहता है (अर्थात् वह उस वस्तु की न निन्दा करता है, न स्तुति।)'

संक्षेपमें, कवि के स्वभाव के रंग उसके काव्य में अनिवार्य रूप से उतरते हैं। अर्थात् इससे यह सिद्ध होता है कि, काव्यगत सौन्दर्य का कवि के स्वभाव से अविभाज्य एवं घनिष्ट सम्बन्ध होता है। अपने इस सैद्धान्तिकप्राय विचारके समर्थन में पाल्यकीर्ति ने एक श्लोक भी उद्धृत किया है, जिसका आशय है— जिन पुरुषों की दीर्घ निशाएँ प्रियतमाओं के सान्निध्य में क्षण के समान व्यतीत होती हैं, उन्हें चन्द्रमा परम शीतल प्रतीत होता है। जो पुरुष विरही होते हैं उन्हें वही चन्द्रमा तप्त उल्का के समान दाहक प्रतीत होता है। किन्तु मेरे लिए न तो प्रियतमा है, न उसका वियोग। इस लिए मुझको यह चन्द्रमा किसी दर्पण के समान केवल शोभादायक प्रतीत होता है, अर्थात् वह न शीतल सुखद प्रतीत होता है, न उष्ण दुःखद ही।[२३]

सरसता वचनविन्यास में होती है।

किन्तु, पाल्यकीर्ति की उपरिवर्णित भूमिका सर्वमान्य नहीं है। अवन्तिसुन्दरी जैसे स्त्री-आलोचक का इस सन्दर्भ में कुछ भिन्न मत है। उसने निम्नोद्धृत युक्तिवाद किया है—

"विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम्' इति अवन्तिसुन्दरी।

तदाह—'**वस्तुस्वभावोऽत्र कवेरतन्त्रो गुणागुणावुक्तिवशेन काव्ये।**

स्तुवन्निबध्नात्यमृतांशुमिन्दुं निन्दुंस्तु दोषाकरमाह धूर्तः ।।"[२४]

अर्थात्, 'काव्यगत विषय का स्वरूप नियत नहीं होता है। भाषाप्रभु कवि उस विषय का वर्णन अपनी भाषाशैली की सहायता से करता है। (अर्थात्, विषयवस्तु का स्वरूप कवि के वैशिष्ट्यपूर्ण वचनविन्यास के कारण नियत होता है।) ऐसा अवन्तिसुन्दरी का अभिप्राय है। इस सन्दर्भ में ऐसा कहा गया है कि, काव्यगत वस्तु का स्वभाव अनिश्चित होता है। काव्य में गुण एवं दोष कवि के वचनों के (अर्थात् शब्दविन्यास के) कारण उत्पन्न होते हैं। चन्द्रमा की स्तुति करने का इच्छुक पुरुष चन्द्रमा को 'अमृतांशु' (अमृत के किरणों वाला) कहता है, तो चन्द्रमा की निन्दा करने का इच्छुक पुरुष उसे 'दोषाकर' (दोषों का निधि) कहता है।'

सरसता कविहेतु में होती है।

पाल्यकीर्ति तथा अवन्तिसुन्दरी के मन्तव्यों का तुलनात्मक विचार करने पर यह बात ध्यान में आ जाती है कि, पाल्यकीर्ति के अनुसार काव्यगत सौन्दर्य कविस्वभाव के अधीन होता है, तो अवन्तिसुन्दरी के अनुसार वह कविवचनाधीन होता है। किन्तु, अवन्तिसुन्दरी द्वारा उद्धृत परम्परागत श्लोक के अर्थ का विश्लेषण करने पर यह सुविशद होता है कि, काव्यगत सौन्दर्य कवि-अभिप्रायाधीन (अथवा कविहेतु के अधीन) होता है। वचन वाचिक होता है, तो हेतु मानसिक। अर्थात्, उपर्युक्त परम्परागत अभिमत के अनुसार काव्यगत सौन्दर्य का सम्बन्ध कवि के मन से होता है। यह विचार पाल्यकीर्ति के उपर्युद्धृत विचार से साम्य रखता है।

राजशेखर ने इस विषय का उपसंहार करते समय ऐसे समन्वयात्मक अभिप्राय को प्रकट किया है कि, चूँकि पाल्यकीर्ति एवं अवन्तिसुन्दरी के मन्तव्य बुद्धिग्राह्य हैं, इसलिए वे दोनों मान्य एवं मननीय हैं।[२८] इससे यह स्पष्ट होता है कि, राजशेखर को यह अभिसम्मत था कि, काव्यगत सरसता अथवा सुन्दरता जितनी कविवचन के अधीन होती है उतनी ही कविस्वभाव के अधीन होती है।

ऊपर के विवेचन का निष्कर्ष यह है—

(अ) राजशेखर के पूर्ववर्ती आचार्यों ने एकाधिक साहित्यिक वादों की आस्थापूर्ण तत्त्वान्वेषण-बुद्धि से प्रचुर चर्चाएँ की हैं।

(आ) उन सब चर्चाओं का सुव्यवस्थित संकलन राजशेखर ने सुचारु रूप से किया है।

(इ) काव्य सरस ही होना चाहिए, नीरस कदाऽपि नहीं होना चाहिए, यह तत्त्व सर्वमान्य है।

(ई) काव्यमीमांसकों का दृढ़ आग्रह है कि, काव्यगत वर्णन प्रमाणबद्ध एवं रस-सम्बद्ध अवश्य होने चाहिए।

(उ) सरसता या तो मूलभूत काव्यविषय में, या कविवचनों में, या कविस्वभाव के विशेषों में या कवि के हेतु में होती है। इस प्रकार काव्यगत सुन्दरता के विषय में कुल मिलाकर चार पक्ष प्रतीत होते हैं। उनमें से अन्तिम पक्ष की ओर राजशेखर ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया है।

(ऊ) इस विवाद्य विषय के सम्बन्ध में सभी मतभेदों का परमतोल्लेखपूर्वक परामर्श करने वाला आद्य भारतीय काव्यमीमांसक राजशेखर ही हुआ है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

1. **P.V. Kane**—*History of Sanskrit Poetics*, Third revised edition, Delhi, 1961, p. 216;

S. N. Dasgupta—*A History of Sanskrit Literature, vol. I*, second edition, Calcutta, 1962, pp. 546-547

2. **U.V. Rao**—*A Handbook of Classical Sanskrit Literature*, second edition, Madras, 1961, p. 206.

3. **A.B. Keith**—*A History of Sanskrit Literature*, reprinted in 1953, London, p. 385,

४—'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं व्याप्रियते' इति श्यामदेवः।

राजशेखर—कविराजराजशेखरविरचिता **काव्यमीमांसा** (अतः पर **काव्यमी** संक्षेप से उल्लिखित), सम्पादक पं० मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४, पृ० ५५-५६

५—"तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्। 'न हि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते' इत्याचार्याः। 'न' इति यायावरीयः।"—काव्यमी० पृ० ६२

६—'बहुज्ञता व्युत्पत्तिः' इत्याचार्याः। 'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्तिः' इति यायावरीयः।" तत्रैव, पृ० ७४-७५

७—'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः।—'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः। 'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ' इति यायावरीयः।'—तत्रैव, पृ० ७५, ७७-७८

८—'कः पुनरयं पाकः ?' इत्याचार्याः। 'परिणामः' इति मङ्गलः। 'पदनिवेशनिष्कम्पता पाकः' इत्याचार्याः। 'कार्यानुमेयतया यत्तच्छब्द-निवेद्यः परं पाकोऽभिधाविषयस्तत्सहृदयप्रसिद्धिसिद्ध एवं व्यवहाराङ्गमसौ "इति यायावरीयः।"—तत्रैव पृ० ९३,९५

९—'असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्येके।—'न' इति यायावरीयः। तत्रैव, पृ० ८१-८५

१०—'असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्यपरे।—'अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः।'—तत्रैव पृ० ८९,९९

११—'असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इति च केचित् ।—'प्रक्रमापन्नो निबन्धनीय एवायमर्थः' इति यायावरीयः ।—तत्रैव पृ० ९१,९२

१२—' तद्धि काव्यविद्यायाः परिकरः' इत्याचार्याः । 'प्रतिभैव परिकरः' इति यायावरीयः ।' तत्रैव, पृ० १६३

१३—'अशास्त्रीयमलौकिकं च परम्परायातं यमर्थमुपनिबध्नन्ति कवयः सः कविसमयः । 'नन्वेष दोषः कथङ्कारं पुनरुपनिबन्धनार्हः ?' इत्याचार्याः । 'कविमार्गानुग्राही कथमेष दोषः ?' इति यायावरीयः ।—तत्रैव, पृ० २३४-२३५

१४—तत्रैव, पृ० १४१-१४२

१५—'आम्' इति यायावरीयः ।'—तत्रैव, पृ० १४२

१६—तत्रैव

१७—'एतां विलोकय तलोदरि ताम्रपर्णी-
मम्भोनिधौ विवृतशुक्तिपुटोद्धृतानि ।
यस्याः पयांसि परिणाहिषु हारमूर्त्या
वामभ्रुवां परिणमन्ति पयोधरेषु ॥'—तत्रैव, पृ० १४२

१८—'एतास्ता मलयोपकण्ठसरितामेणाक्षि ! रोधोभुव
श्चापाभ्यासनिकेतनं भगवतः प्रेयो मनोजन्मनः ।
यासु श्यामनिशासु पीततमसो मुक्तामयीश्चन्द्रिकाः
पीयन्ते विवृतोर्ध्वचञ्चु विचलत्कण्ठं चकोराङ्गनाः ॥'—तत्रैव पृ० १४२-४३

१९—'धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः ।
यच्च स्वर्गसदां वयः स्मरसुहृन्नित्यं सदा सम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधेस्तत्कान्तमाचेष्टितम् ॥'—तत्रैव, पृ० १४३

२०—'विधर्माणो भावास्तदुपहितवृत्तेर्न घृतये
सरूपत्वादन्ये विहितविफलौत्सुक्यविरसाः ।
ततः स्वेच्छं पूर्वेष्वसजदितरेभ्यः प्रतिहतं
क्व हीनं प्रेयस्या हृदयमिदमन्यत्र रमताम् ॥'—तत्रैव, पृ० १४४

२१—तत्रैव० २२ तत्रैव०

२३—'येषां वल्लभया समं क्षणमिव स्फारा क्षपा क्षीयते
तेषां शीततरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत् ।
अस्माकं न तु वल्लभा न विरहस्तेनोभयभ्रंशिना-
मिन्दू राजति दर्पणाकृतिरयं नोष्णो न वा शीतलः ॥—तत्रैव पृ० १४५

२४—तत्रैव पृ० १४६.२५- 'उभयमुपपन्नम् इति यायावरीयः ।'—तत्रैव

प्राचीन शास्त्रग्रन्थों की रचनाशैली

यह बात सर्वविदित है कि, संस्कृत भाषा में रंजक तथा उद्बोधक साहित्य का सृजन प्रचुर मात्रा में हुआ है। संस्कृतज्ञ पण्डितों ने एक ओर साहित्य, सङ्गीत, नृत्य, नाट्य, चित्र इत्यादि कलाओं की उपासना निष्ठा से की है तो दूसरी ओर उतनी ही निष्ठा से व्याकरण, छन्दःशास्त्र, राजनीति, गणित आदि शास्त्रों की आराधना की है। इन शास्त्रों के अध्ययन के आदेश कवियों को काव्यशास्त्रज्ञों के द्वारा बार-बार दिये गये हैं। उदाहरण के लिए, वामन ने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्रों' में **'शब्दस्मृत्यभिधानकोषच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्रदण्डनीतिपूर्वाः विद्याः ॥"**[1] के अध्ययन का आदेश कवियों को दिया है। क्षेमेन्द्र के द्वारा भी कवियों को तर्कशास्त्र, व्याकरण, नाट्यशास्त्र, राजनीति, कामशास्त्र, महाभारत, मोक्षोपायविद्याएँ, अध्यात्मशास्त्र, धातुविद्या, रत्नपरीक्षाशास्त्र, वैद्यकशास्त्र, ज्यौतिषशास्त्र, धनुर्वेद, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, पुरुषलक्षणविद्या, द्यूत, चित्रकला आदि अनेक शास्त्रविद्याओं के परिशीलन का उपदेश दिया गया है।[2] हेमचन्द्र ने भी अपने 'काव्यानुशासन' नामक ग्रन्थ में **'लोकशास्त्रकाव्येषु निपुणता व्युत्पत्तिः ।'** सूत्र पर वृत्ति लिखते समय अनेक शास्त्रों के निर्देश किये हैं।[3] ये सब निर्देश इस बात को प्रमाणित करते हैं, कि प्राचीन समय में संस्कृत भाषा में अनेकानेक शास्त्रों पर ग्रन्थप्रणयन हुआ करता था।

संस्कृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थसम्भार की ओर देखने पर ऐसा निश्चय होता है कि, संस्कृतज्ञों ने प्रतिभा तथा प्रज्ञा के उन्मेषों एवं आविष्कारों को बड़े उत्साह से ग्रन्थ रूप में गुम्फित किया है। ऐसा करने में उन्होंने किसी भी विषय को वर्जित नहीं माना। प्रतिपाद्य विषय की केवल योग्यता पर ध्यान देकर उन्होंने प्रचण्ड ग्रन्थसृष्टि की है। उनकी इस वृत्ति का यथार्थ वर्णन करते समय डॉ० सी० कुञ्जन राजा लिखते हैं—

"There is no subject under the sun on which something has not been written in Sanskrit. The people in general, and the intellectuals especially, were so very scientifically minded that they could not think of virtuosity as a bar to the scientific investigation of any subject. Every subject is a subject and must be dealt with in science. Is there something that is worthy of being scientifically treated ? This is the only question that they had to consider when they took up a subject."[4]

प्राचीन आचार्यों के द्वारा निर्मित इस शास्त्रजगत् के प्रति आश्चर्यमिश्र आनन्द से देखते ही विचारक का मन अनेक प्रश्नों से व्याप्त होता है। क्या उन सूक्ष्मबुद्धि मनीषियों के द्वारा शास्त्र-ग्रंथों का लेखन मात्र होता रहा अथवा शास्त्रग्रंथों के लेखन का स्वरूप निश्चित करने का भी प्रयास हुआ था? क्या उन्होंने अंगीकृत विषय की प्रमाणबद्ध चर्चा करने की किसी पद्धति का भी अन्वेषण किया था? प्रतिपाद्य विषय के अंगों अथवा घटकों के विवेचन की कौन-सी पद्धति वे अपनाते थे? ग्रंथस्थ विषय के सुविशद विवेचन के लिए वे किस प्रकार की तत्परता को प्रदर्शित करते थे? क्या उन्होंने शास्त्रीय विषय के प्रतिपादन एवं निरूपण हेतु कोई शास्त्रोक्त साँचा-ढाँचा बना लिया था? अन्य शब्दों में यह पूछा जा सकता है कि, क्या प्राचीन चिन्तकों ने शास्त्रीय ग्रंथों की रचना एवं सिद्धि के लिए कोई विशेष तन्त्र अथवा शास्त्र सिद्ध किया था? इन प्रश्नों के उत्तर खोजने के उद्देश्य से इस निबन्ध का लेखन हुआ है।

उक्त सभी प्रश्नों के उत्तर भाग्यवश विष्णुधर्मोत्तर उपपुराण में पाये जाते हैं। इस पुराणग्रंथ के तृतीय खण्ड के प्रथम भाग के षष्ठ अध्याय में निम्नलिखित तन्त्रयुक्तियों के निर्देशपूर्वक लक्षण हमें उपलब्ध होते हैं।

"अथ तन्त्रयुक्तयो भवन्ति। अधिकरणं योगः पदार्थो हेत्वर्थ उद्देशो निर्देशः [उपदेशः अपदेशः] प्रदेशोऽतिदेशः अपवर्गो वाक्यशेषोऽर्थापत्तिः प्रसङ्ग एकान्तोऽनैकान्तः पूर्वपक्षो निर्णयो विधानं [वि] पर्ययोऽतिक्रान्तावेक्षणं अनागतावेक्षणं संशयोऽतिव्याख्यानमनुमतं स्वसंज्ञा निर्वचनं दृष्टान्तो वि [? नि] योगो विकल्पः समुच्चयः ऊह्यमिति। तत्र यमर्थमधिकृत्योच्यते तदधिकरणम्। येन वाक्यार्थो युज्यते स योगः। योऽर्थो वि [ऽधि] कृतः सूत्रपदे स पदार्थः। यदन्यद्युक्तिमदर्थस्य साधनं स हेत्वर्थः। समासवचनमुद्देशः। विस्तरवचनं निर्देशः। एवमेवेत्युपदेशः। अनेन कारणेनेत्यपदेशः। प्रकृतस्यानागतेन साधनं प्रदेशः। अतिक्रमणेन अतिदेशः। अभिप्रायानुकर्षणमपवर्गः। येनार्थः परिसमाप्यते पदेनाहार्येण स वाक्यशेषः। यदकीर्तितमर्थादापद्यते सार्थापत्तिः। प्रकरणाभिहितोऽर्थः केनचिदुपोद्घातेन पुनरुच्यमानः प्रसङ्गः। सर्वत्र यथा तथा स एकान्तः। क्वचित्तथा क्वचिदन्यथा ऽसावनेकान्तः। प्रतिषेधवचनं पूर्वपक्षः। उत्तरवचनं निर्णयः। प्रकरणानुपूर्वं विधानम्। तस्य प्रातिलोम्यं विपर्ययः। इत्युक्तमतिक्रान्तावेक्षणम्। परत्र वक्ष्यामीत्यनागतावेक्षणम्। उभयतो हेतुदर्शनं संशयः। तत्रातिशयवर्णनातिव्याख्यानम्। परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्। परैरसंगतः शब्दः स्वसंज्ञा। लोके प्रतीतमुदाहरणं निर्वचनम्। तद्युक्तिनिदर्शनं दृष्टान्तः। एवेति नियोगः। इदं वेदं वेति विकल्पः। इदं चेदं चेति समुच्चयः। अत्र यदनिर्दिष्टं युक्तिगम्यं तदूह्यमिति।"[५]

अर्थात्—'अब तंत्र अथवा शास्त्र की युक्तियों का प्रतिपादन करेंगे। १. अधिकरण, २. योग, ३. पदार्थ, ४. हेत्वर्थ, ५. उद्देश, ६. निर्देश, ७. उपदेश, ८. अपदेश, ९. प्रदेश, १०. अतिदेश, ११ अपवर्ग, १२. वाक्यशेष, १३. अर्थापत्ति, १४. प्रसंग, १५. एकान्त, १६. अनैकान्त, १७. पूर्वपक्ष, १८. निर्णय, १९. विधान, २०. विपर्यय, २१. अतिक्रान्तावेक्षण, २२. अनागतावेक्षण, २३. संशय, २४. अतिव्याख्यान, २५ अनुमत, २६ स्वसंज्ञा, २७. निर्वचन, २८. दृष्टान्त, २९. नियोग, ३०. विकल्प, ३१. समुच्चय एवं ३२. ऊह्य, ये वे तन्त्रयुक्तियाँ हैं। उनमें जिस अर्थ को विषय बनाकर प्रतिपादन किया जाता है उस अर्थ को 'अधिकरण' कहते हैं। जिसमें वाक्य का अर्थ जुड़ जाता है उसे 'योग' कहते हैं। जो अर्थ सूत्र के शब्दों में विषयरूप होता है, वह पदार्थ कहलाता है। अर्थ की सिद्धि का जो युक्तिपूर्ण अन्य साधन होता है, वह है हेत्वर्थ। संक्षिप्त कथन को उद्देश और सविस्तर उक्ति को निर्देश कहते हैं। 'केवल इस प्रकार' को उपदेश कहते हैं। 'इस कारण से', यह अपदेश। प्रकृत विषय की सिद्धि आगे आनेवाले से करना है प्रदेश। (प्रकृत विषय की सिद्धि) पहले प्रतिपादित से करने का नाम है अतिदेश। अभिप्राय को निकालना है अपवर्ग। जिस अध्याहृत पद के द्वारा अर्थ की परिसमाप्ति होती है उसे वाक्यशेष कहते हैं। जो अकथित (अर्थ) अर्थात् प्राप्त होता है वह है अर्थापत्ति। प्रकरण में कथित अर्थ को किसी उपोद्घात से पुनः कहने को प्रसङ्ग कहते हैं। 'जैसे वहाँ वैसे सर्वत्र', यह एकान्त है। 'कभी इस प्रकार, कभी भिन्न प्रकार से', यह हुआ अनैकान्त। निषेधपरक उक्ति को पूर्वपक्ष कहते हैं। उत्तरपरक वचन है निर्णय। प्रकरण से संगत कथन को विधान कहते हैं और उससे विपरीत कथन को विपर्यय कहते हैं। 'ऐसा पहले कह आये हैं,' यह अतिक्रान्तावेक्षण है। 'अन्यत्र कहेंगे' यह अनागतावेक्षण है। दोनों में हेतु को बतलाने का नाम है संशय और उसमें अतिशय का वर्णन करना है अतिव्याख्यान। परमत का निषेध न करना है अनुमत। दूसरों से असंगत शब्द को स्वसंज्ञा कहते हैं। लोकव्यवहार में प्रतीत होनेवाला उदाहरण देना निर्वचन कहलाता है। उसमें युक्ति को दिखलाना है दृष्टान्त। 'यही' (इतना ही) यह है नियोग। 'यह अथवा यह' ऐसा कहना 'विकल्प' कहलाता है। 'यह और यह', यह समुच्चय है। 'यहाँ जिसका निर्देश नहीं उसका ज्ञान युक्ति से होगा', यह ऊह्य है।'

उपरिवर्णित तन्त्रयुक्तियाँ एवं उनका स्पष्टीकरण ये दोनों उद्बोधक एवं महत्त्वपूर्ण हैं। प्राचीन शास्त्रकारों ने शास्त्रीय ग्रंथ के प्रणयन तथा आकलन से सम्बद्ध अनेक सिद्धांतों पर गंभीर चिन्तन किया था, जैसे शास्त्रग्रंथ के प्रणयन के सभी सम्भाव्य प्रतिबन्धकों का परिहार करना, ग्रंथ को सुबोध बनाकर भी उसकी शास्त्रीयता को बनाये रखना, ग्रन्थ में अभीष्ट निर्बन्धों का पालन करना, ग्रन्थ को अल्पविस्तृत एवं सुबद्ध बनाना, इत्यादि। उनका यह ग्रन्थरचनाविवेक सूक्ष्म एवं तर्कपूर्ण था। उनके इस ग्रन्थरचनाकौशल का

सम्यक् ज्ञान कराने की दृष्टि से उपर्युक्त तन्त्रयुक्तियों के प्रयोजन नीचे सुविशद किये जा रहे हैं :—

युक्ति नाम (उक्त क्रमांक के साथ)	प्रयोजन
१ अधिकरण एवं ३ पदार्थ	प्रतिपाद्य विषय का यथार्थ ज्ञान कराना ।
२ योग	विषय के विभागों के परस्पर-संबंधों को स्पष्ट करना ।
५ उद्देश एवं ६ निर्देश	विषय के महत्त्व या गौणत्व को ध्यान में रखते हुए आवश्यकता के अनुसार उसका संक्षेप अथवा विस्तार करना ।
७ उपदेश, ८ अपदेश, १४ प्रसङ्ग, १९ विधान, २० विपर्यय एवं २९ नियोग	प्रतिपादन का युक्तिवाद से समर्थन कर उसमें विश्वसनीयता एवं निश्चितता को लाना ।
९ प्रदेश, १० अतिदेश, १३ अर्थापत्ति, १५ एकान्त एवं १६ अनैकान्त	अनावश्यक विस्तार को टालकर प्रतिपादन में सुबद्धता को लाना ।
२१ अतिक्रान्तावेक्षण, २२ अनागतावेक्षण, ३२ ऊह्य, ११ अपवर्ग एवं १२ वाक्यशेष	सन्दिग्धता को वर्जित कर अभीष्ट अभिप्राय को प्रदर्शित करना ।
१७ पूर्वपक्ष, १८ निर्णय एवं २५ अनुमत	प्रतिपक्ष के कथन एवं अपने मन्तव्य को पाठकों के लिए प्रस्तुत करना ।
२६ स्वसंज्ञा	अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रकट करना ।
२७ निर्वचन एवं २८ दृष्टान्त	प्रतिपादन को रंजक तथा रोचक बनाना ।
३० विकल्प एवं ३१ समुच्चय	विषय के सभी सम्भाव्य अङ्गोंपर प्रकाश डालना ।
४ हेत्वर्थ, २३ संशय एवं २४ अतिव्याख्यान	प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में अवान्तर मतों को पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना ।

उक्त तालिका से 'तन्त्रयुक्तियों' का स्वरूप, प्रयोजन एवं महत्त्व स्पष्ट होता है । इसके अतिरिक्त तन्त्रयुक्तियों की कल्पना में प्राचीन आचार्यों के द्वारा प्रयुक्त सूक्ष्म बुद्धि का भी ज्ञान होता है । किन्तु केवल इस तात्त्विक चर्चा से इस बात का ज्ञान नहीं हो सकेगा कि, इन तन्त्रयुक्तियों का उपयोग शास्त्रीय ग्रन्थों में किस रूप में किया जाता था । इस लिए यह आवश्यक है कि, हम उदाहरण स्वरूप एकाधिक ग्रन्थों का विश्लेषण

यहाँ प्रस्तुत करें। इस दृष्टि से पृथक्करण हेतु यहाँ दो अलग-अलग शास्त्र ग्रन्थों को लिया जा सकता है। एक सप्तपदार्थी[६] और दूसरा काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः। शिवादित्य-प्रणीत सप्तपदार्थी न्यायवैशेषिक दर्शन का सूत्रबद्ध ग्रन्थ है। उसकी कुल सूत्रसंख्या १९८ है और ग्रन्थ के उद्देश, लक्षण एवं परीक्षा इस प्रकार तीन विभाग हैं। इस ग्रन्थ में निम्नोट्टङ्कित तालिका में निर्दिष्ट तन्त्रयुक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं :—

तंत्रयुक्ति	सूत्र	पृष्ठाङ्क	सूत्राङ्क
१ अपदेश	विशेषास्तु यावन्नित्यद्रव्यत्वात् अनन्ता एव।	८	८
,,	आकाशादित्रयं तु वस्तुत एकमेव उपधिभेदान्नानाभूतम्।	१९	१८
,,	मनस्तु प्रत्यात्मनिष्ठत्वात् अनन्तम्।	२१	२०
,,	अनुमितिरपि त्रिविधा लिङ्गस्य त्रैविध्यात्।	२८	३४
२ ऊह्य	अपरे भेदा स्वयमूहनीयाः।	४९	६३
३ नियोग[७]	ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाख्याः सप्तैव।	४	३
,,	कर्माणि उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानि पञ्चैव।	७	६
४ निर्देश[८]	ते च द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाख्याः सप्तैव।	४	३
,,	अभावस्तु प्रागभाव प्रध्वंसाभाव अत्यन्ताभाव अन्योन्याभावलक्षणः चतुर्विधः।	१०	१०
५ निर्वचन	शरीरमस्मदादीनां प्रत्यक्षसिद्धम्	११	११
६ पदार्थ	प्रमितिविषयाः पदार्थाः।	२	२
७ वाक्यशेष	एवं प्रत्यभिज्ञा हानोपादान उपेक्षाज्ञानानामपि। (यहाँ 'प्रमायां अप्रमायां च अन्तर्भावः।' इन आहार्यपदों से वाक्य परिसमाप्त होता है।)	३३	३७
८ विकल्प	स्थितिर्वर्तमानत्वम्। तच्च प्राक्सम्बद्धस्वाभाव-रहितस्वरूपवत्त्वम्। स्वकार्यप्रागभावसम्बन्धित्वं वा। (इधर 'वा' पद के द्वारा वर्तमानत्व का वैकल्पिक लक्षण उक्त है।)	९६	१३२
९ हेत्वर्थ	शब्दस्याप्यनुमानविषयत्वेन अविनाभावोपजीवकत्वेन वा अनुमानत्वम्।	११५	१५५

[यहाँ भी 'वा' पद का प्रयोग हुआ है, यह सत्य है, परन्तु यहाँ के 'वा' का अर्थ 'च' (और) है। शब्द के अनुमानत्व के दो कारण यहाँ कहे गये हैं— उनमें एक है अनुमानविषयत्व और दूसरा है अविनाभावोपजीवकत्व। अर्थात् यहाँ 'अनुमानत्व' अर्थ का 'अविनाभावोपजीवकत्व' दूसरा युक्तिपूर्ण साधन उक्त है। इसी लिए ऊपर के विधान में हेत्वर्थ युक्ति की सत्ता को मानना युक्त है।]

इस तालिका में हमने तन्त्रयुक्तियों की दृष्टि से 'सप्तपदार्थी' का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। अब वामन के 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः' शीर्षक ग्रन्थ का भी इसी दृष्टि से पृथक्करण करेंगे। यह लघु ग्रन्थ काव्यशास्त्रीय होकर लगभग ३२० सूत्रों में निबद्ध है। वामन ने स्वयं ही उन सूत्रों पर वृत्ति लिखी है और सूत्रवृत्तिगत विचारों के स्पष्टीकरण हेतु उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यह ग्रन्थ सप्तपदार्थी से कुछ बड़ा है। इस लिए इसमें प्रयुक्त सभी तन्त्रयुक्तियों को यहाँ समाविष्ट कर लेना सम्भव नहीं है। अतः प्रयुक्त तन्त्रयुक्तियों में से प्रत्येक के केवल एकही प्रयोग को निम्न तालिका में उद्धृत किया जाता है।

तंत्रयुक्ति	सूत्र अथवा वृत्ति	पृष्ठांक	सूत्रांक
१ अतिक्रान्तावेक्षण	'अवहितं चित्तमर्थान्पश्यतीत्युक्तं पुरस्तात्।'	४२	७ की वृत्ति
२ अधिकरण	'शारीरं नाम प्रथममधिकरणम्।'	१	शीर्षक
३ अनागतावेक्षण	'ये त्वन्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते गुणविवेचन एवोच्यन्ते।'	३१	पङ्क्ति ६
४ अनुमत	'कथं तदतद्रूपत्वं जातेः। तद्धि जैमिनीया जानन्ति। वयं तु लक्ष्यसिद्धौ सिद्धपरमतानुवादिनः।'	८०-८१	वृत्ति
५ अनैकान्त	'तद्धातुनामभागभेदे स्वरसंध्यकृते प्रायेण।'	२२	४
६ अपदेश	'न पाठधर्माः सर्वत्रादृष्टेः ॥२८॥'	३९	२८
७ अपवर्ग	'न विरुद्धोऽतिशयः। विरुद्धस्यातिशयस्य संग्रहो न कर्तव्य इत्यस्य सूत्रस्य तात्पर्यार्थः।'	६२	२१ की वृत्ति
८ अर्थापत्ति	'एवं समस्तपादादिमध्यान्तयमकानि व्याख्यातानि'	४९	वृत्ति

९ उद्देश	'प्रतिवस्तुप्रभृतिरुपमाप्रपञ्चः ॥'	६२	१
१० ऊह्य	'अनयैव दिशा कार्यं शेषाणामप्यवेक्षणम् ॥'	९६	वृत्ति
११ दृष्टान्त	'न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ॥'	४	४
	'न कतकं पङ्कप्रसादनाय ॥'	४	५
१२ नियोग	'त एवार्थगुणाः ॥'	३९	१
१३ निर्णय	'तदारोहणार्थमितराभ्यास इत्येके ।'	७	१६
	'तत्तु न । अतत्त्वशीलस्य तत्त्वानिष्पत्तेः ॥'	७	१७
१४ निर्देश	'शब्दस्मृत्यभिधानकोषच्छन्दोविचितिकलाकामशास्त्र-दण्डनीतिपूर्वा विद्याः ॥'	९	३
१५ निर्वचन	'क्रमसिद्धिस्तयोः स्रगुत्तंसवत् ।'	१५	२८
१६ पदार्थ	'सौन्दर्यमलङ्कारः ।'	२	२
१७ पूर्वपक्ष	'उपमानाधिक्यात्तदपोह इत्येके ।'	६१	१८
१८ योग	'चित्तैकाग्र्यमवधानम् ।'	१३	१७
	'तद्देशकालाभ्याम् ।'	१३	१८
१९ वाक्यशेष	'रीतिरात्मा काव्यस्य ॥'	४	६
	रीतिर्नामियमात्मा काव्यस्य । शरीरस्येवेति वाक्यशेषः ।		वृत्ति
२० विकल्प	'पदानां संधिः पदसंधिः । स च स्वरसमवायरूपः प्रत्यासत्तिमात्ररूपो वा'	२४	७ की वृत्ति
२१ विधानम्	'सापि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ।' ['समग्रगुणा वैदर्भी ॥', 'सूत्र'ग्रन्थान्तर्गत ग्यारहवाँ सूत्र है । उसके बाद के ७-८ सूत्रों में ग्रन्थकार ने कुछ अन्य विषयों का विवेचन किया है । फिर उपर्युद्धृत सूत्र में प्रकरण से संगत विषय का विधान है]	८	१९
२२ विपर्यय	'विपर्ययस्तु यथा—'चलितशबरसेनादत्तगोशृङ्ग-चण्डध्वनिचकितवराहव्याकुला विन्ध्यपादाः ॥'	३६	२१ की वृत्ति
२३ समुच्चय	'आरोहस्य क्रमोऽवरोहस्य च क्रम आरोहा-वरोहक्रमः क्रमेणारोहणमवरोहणं चेति केचित् ।'	३५	वृत्ति
२४ हेत्वर्थ	उक्तार्थपदमेकार्थम् ।	२५	११
	न, विशेषश्चेत् ॥	२५	१२

धनुर्ज्याध्वनौ धनुःश्रुतिरारूढेः प्रतिपत्त्यै	२६	१३
कर्णावतंसश्रवणकुण्डलशिरःशेखरेषु		
कर्णादिनिर्देशः संनिधेः ।	२६	१४
मुक्ताहारशब्दे मुक्ताशब्दः शुद्धेः ॥	२६	१५
पुष्पमालाशब्दे पुष्पपदमुत्कर्षस्य	२७	१६
करिकलभशब्दे करिशब्दस्ताद्रूप्यस्य	२७	१७
विशेषणस्य च ।	२७	१८

[यहाँ 'विशेष' पदार्थ की सिद्धि में 'प्रतिपत्ति' के अतिरिक्त संनिधि-शुद्धि-प्रभृति अन्य साधन उक्त हैं। इस लिए यहाँ हेत्वर्थ युक्ति है।[९]]

इस तालिका से यह स्पष्ट होता है कि, वामन के द्वारा विष्णुधर्मोत्तरोक्त बत्तीस युक्तियों में से चौबीस युक्तियों का प्रयोग किया गया था। शिवादित्य ने अपनी 'सप्तपदार्थी' में केवल नौ युक्तियों का अवलम्ब किया था। इस सन्दर्भ में यह ध्यान में रखना नितान्त आवश्यक है कि, प्रत्येक शास्त्रीय ग्रन्थ में सभी बत्तीस युक्तियों का प्रयुक्त होना आवश्यक नहीं है। ग्रन्थ का स्वरूप, उसकी व्याप्ति, उसका विस्तार, उसमें विवेचित विषय, तदन्तर्गत चर्चाएँ आदि अनेक बातों पर युक्तियों की संख्या निर्भर रहती है। किन्तु एक बात सुनिश्चित है कि, संस्कृत भाषा में शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना करनेवाले विचारक उपर्युक्त युक्तियों का उपयोग अपने ग्रन्थों में अवश्य किया करते थे।

ऊपर हमने केवल दो (सप्तपदार्थी एवं काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिः) ग्रन्थों के अन्तर्गत तन्त्रयुक्तियों का सोदाहरण विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार और भी शास्त्रग्रन्थों की, तन्त्रयुक्तियों के प्रयोगों के अन्वेषणार्थ, परीक्षा की जा सकती है। ऐसी परीक्षा करने पर उनमें तन्त्रयुक्तियों की उपलब्धि अवश्य होगी। किन्तु इस लेख के विस्तार के भय से इस प्रकार के विस्तृत उपक्रम को करना हमारे लिए यहाँ सम्भव नहीं है।

उक्त विवेचन के प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. प्राचीन विचारकों को यह प्रतीत हुआ था कि, शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना का कोई तन्त्र (साँचा-ढाँचा) होना आवश्यक है।

२. उन्होंने अपनी प्रतीति को तन्त्रयुक्तियों की कल्पना के द्वारा साकार किया था।

३. प्राचीन शास्त्रकारों के द्वारा अधिकरण-प्रभृति बत्तीस युक्तियाँ कल्पित थीं।

४. प्रत्येक तन्त्रयुक्ति का ग्रन्थसिद्धि में कुछ प्रयोजन एवं कार्य निश्चित था।

५. इन तन्त्रयुक्तियों की विषयनिरपेक्षता के कारण प्रत्येक शास्त्रीय ग्रन्थों में इनका अवलम्ब किया जाता था ।

६. शास्त्र-ग्रन्थों की रचना तन्त्रयुक्तियों की सहायता से होती थी, इस लिए उन शास्त्र-ग्रन्थों का अध्यापन करनेवाले गुरुओं तथा अध्ययन करनेवाले शिष्यों को तन्त्रयुक्तियों का पर्याप्त ज्ञान अनिवार्य होता था ।

इस प्रसङ्ग में यह विचारणीय प्रतीत होता है कि, प्राचीन संस्कृत शास्त्रीय ग्रन्थों का जो अध्ययन-अध्यापन आजकल महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में होता है, उसमें आधुनिक गुरु-शिष्यों को भी तन्त्रयुक्तियों के सरहस्य ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है । अन्यथा प्राचीन शास्त्रों का वास्तविक ज्ञान न होकर क्वचित् ग्रन्थकार की अन्याय्य एवं अतथ्यपूर्ण समीक्षा होने की सम्भावना रहती है । क्षेमेन्द्र भी इस प्रकार की आलोचना का विषय हुआ है । उसने अपने 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ के उपसंहार में लिखा है— 'अन्येषु काव्याङ्गेषु अनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम् ॥' (संग्रह पृष्ठ ६२) । इस वचन के पहले उसने सम्पूर्ण ग्रन्थ में सत्ताईस औचित्यस्थानों का सोपपत्तिक एवं सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया है और तत्पश्चात् ही उक्त वाक्य को लिखा है । वस्तुत: यहाँ क्षेमेन्द्र ने 'ऊह्य' तन्त्रयुक्ति का प्रयोग किया है, यह स्पष्ट है । इस लिए उसपर आक्षेप करने की कोई आवश्यकता नहीं है । तथापि, उक्त तन्त्रयुक्ति के ज्ञान के अभाव में डॉ० देने निम्नलिखित शब्दों में क्षेमेन्द्र को दोषी ठहराया है—"... and the cases of application are dogmatically summarised as twenty-seven in number."[10] क्षेमेन्द्र dogmatic नहीं है । किन्तु उसके कथन के रहस्य को न समझते हुए दे साहब ने उसपर अकारण आक्षेप किया है । इस स्थिति के अवलोकन से यह बात सिद्ध होती है कि, तन्त्रयुक्ति प्रकरण के सम्यक् ज्ञान के बिना प्राचीन शास्त्रकारों के आशयों को पूर्णतया, अविकलतया एवं यथार्थतया समझना सम्भव नहीं है ।

वस्तुत:, प्रस्तुत लेख का प्रतिपाद्य विषय यहाँ पर विवेचित अतएव सम्पन्न होता है । किन्तु इस विषय से सम्बद्ध एक प्रश्न पर विचार किये बिना यदि इस लेख की समाप्ति की जाती है, तो विवेचन में कुछ अपूर्णता रह जाएगी । उसी के परिहार के लिए उक्त प्रश्न पर अब विचार-विमर्श किया जाता है ।

शास्त्रीय विषय वैसे ही क्लिष्ट एवं दुरूह होते हैं । स्वाभाविकतया सामान्य मनुष्य उनसे डरकर दूर रहते हैं । भामह ने बड़ी मार्मिकता से इस बात को कहा भी है ।[11] यदि शास्त्रीय ग्रन्थों को सुगम, रंजक एवं रोचक बनाया जाए, तो सामान्य जन उनके प्रति आकृष्ट होकर तथा उनमें रुचि लेकर उनका अध्ययन करेंगे । भामह ने एक जगह कहा

है कि, यदि शास्त्रीय सिद्धान्त काव्य के मधुर रस में मिला कर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किये जाएँ तो पाठक उनका सहर्ष स्वागत करेंगे।[१२] इस कल्पना से प्रेरित होकर ही मानो प्राचीन शास्त्रकारों ने निर्वचन एवं दृष्टान्त तन्त्रयुक्तियों का समावेश अपने तन्त्र-युक्ति-प्रकरण में किया होगा। प्रत्येक शास्त्र-ग्रन्थ में इन युक्तियों की सहायता से विषय का प्रतिपादन सुबोध तथा मनोरंजक करने का प्रयत्न किया हुआ हमें प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, भामह के 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ का विश्लेषण करना उद्‌बोधक होगा। इस दृष्टि से उस ग्रन्थ में निम्नलिखित रंजक उक्तियाँ पायी जाती हैं—

१. अकवि का शास्त्र-ज्ञान धनहीन के दातृत्व के समान अथवा षण्ढ के शस्त्रनैपुण्य के सदृश या अनभिज्ञ की प्रगल्भता के समान होता है। (अलंकार १।३ पृ २)

२. जो विनय के बिना हो वह संपत्ति कैसी ? चन्द्रमा के बिना रात कैसी ? सत्कवित्व के बिना विदग्धता कैसी ? (तत्रैव, १।४, पृ. २)

३. लक्षणशून्य काव्य कुपुत्र-सा होता है। क्योंकि वे दोनों मनुष्य की निन्दा के कारण होते हैं। (तत्रैव, १।११, पृ. ६)

४. काव्य रमणी के रमणीय मुख के समान होता है। (तत्रैव, १।१३, पृ. ७)

५. वक्रोक्तिरहित कोमल एवं सरल काव्य श्रुतिमधुर मात्र होता है। (तत्रैव, १।३४)

६. कभी-कभी दोषयुक्त काव्य भी कवि की कुशलता के कारण माला में गुँथी हुई हरी पत्ती के समान सुन्दर होता है। (तत्रैव, १।५४, पृ. २६)

७. क्वचित् काव्यगत दोष भी सुन्दरी के नेत्र में स्थित काले काजल के समान सुन्दर दिखाई देता है। (तत्रैव, १।५५, पृ. २६)

८. जिस प्रकार कुशल माली उचितानुचित फूलों को चुनकर माला बनाता है, उसी प्रकार कवि को भी शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। (तत्रैव, १।५९ पृ. २८)

९. अर्थ का मर्म जानने वालों की वाणी अलंकारों के कारण, गहिनों से मण्डित रमणी के समान, शोभाशालिनी होती है। (तत्रैव, ३।५८, पृ ८६)

१०. पुनरुक्ति का दोष करनेवाला कवि पागल मनुष्य के समान है। (तत्रैव, ४।१३)

११. कुछ कवियों के काव्य कपित्थ (कैथ के फल) के समान अहृद्य और अरमणीय होते हैं। (तत्रैव, ५।६२, पृ० १४०)

१२. व्याकरणरूपी सागर का जल सूत्रों के समान, तरंग वार्तिकों के जैसे, रसातल भाष्य की बराबरी का और नौका मनन-सदृश होती है और सब विद्यारूपी हथिनियाँ व्याकरण का उपभोग करती हैं। इस व्याकरणरूपी समुद्र को पार किये बिना कोई भी शब्दरूपी रत्नों तक नहीं पहुँच सकता है। (तत्रैव, ६।१-३, पृ० १४३)

१३. दूसरों पर निर्भर वाणी, दूसरे के द्वारा धारण कर उतार दी गयी सरस माला के समान होती है। वह विद्वानों को कैसे संतुष्ट करेगी ? (तत्रैव, ६।५, पृ० १४४)

१४. समुदायी से समुदाय भिन्न नहीं है। लकड़ी, दीवार और भूमि को छोड़कर घर और किसे कहते हैं ? (तत्रैव ६।१०, पृ० १४५)

ऐसा कौन कह सकता है कि ये उद्धृत वचन चित्ताकर्षक नहीं हैं ? ऐसे वचनों को पढ़कर पाठक का विषयज्ञान तो उत्तम हो ही जाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त उसे सुभाषितों के आस्वाद का आनन्द भी प्राप्त होता है। उक्त वचनों का पृथक्करण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि, मानवीय जगत्, प्रकृति, कलाक्षेत्र, प्राणिसृष्टि आदि विभिन्न क्षेत्रों से उपमानों को एकत्रित कर उनके द्वारा कहीं उपमा तो कहीं रूपक की सिद्धि की गई है। किन्तु, उनको उपमा अथवा रूपक कहना समीचीन नहीं है। कारण ये अलंकार-सदृश वचन अलंकरण के लिए प्रयुक्त नहीं है, अपितु वे शास्त्रार्थ को सुबोध करने के उद्देश्य से प्रयुक्त हैं। भिन्न शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि, उक्त रमणीय वचनों की, शास्त्रचर्चा से वाह्य अथवा पृथक्, सत्ता नहीं है। इस प्रकार की उक्तियाँ शास्त्रीय ग्रन्थ के अन्तर्गत युक्तिवादों के घटकों के रूप में प्रयुक्त होती हैं। इसीलिए एतत्सदृश वचनों को, यथार्थतया निर्वचन एवं दृष्टान्त युक्तियों के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं। इस प्रकार के वचन प्रायः सभी शास्त्रग्रन्थों में पाये जाते हैं।

यदि इस प्रकार युक्तियुक्त निरूपण ठीक है तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि, याज्ञवल्क्य-स्मृति जैसे किसी स्मृति-ग्रन्थ अथवा शाङ्करभाष्य जैसे किसी भाष्यग्रन्थ या 'लघुवृत्ति' जैसे किसी टीकाग्रंथ में प्रयुक्त सुभाषितप्राय वचनों को अलग कर उनका 'उपमा अलंकार दृष्टि से' (as similes) विचार करना कहाँ तक युक्तिपूर्ण एवं शास्त्रीय है ? इस प्रश्न के निर्णय का गुरु कार्य अधिकारी पाठकों पर सौंपना ही समुचित है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. श्रीवामनविरचिता **'काव्यालंकारसूत्रवृत्तिः'**–संपा० ना० ना० कुलकर्णी, पुणे, १९२७, (इतः पर 'सूत्र' संक्षेप से निर्दिष्ट), पृ० ९

२. **'क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रहः'**–संपा० राघवाचार्य व पाध्ये, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ (अतः पर 'संग्रह' संक्षेप के द्वारा उल्लिखित), पृ० ७७-८३

३. श्रीहेमचन्द्रविरचितं **'काव्यानुशासनम्'**–काव्यमाला ७०, मुंबई, द्वितीय आवृत्ति, सन् १९३४ ई० (अतः पर 'शासन' संक्षेप से निर्दिष्ट), पृ० ६

४. Dr. C. Kunhan Raja—*Survey of Sanskrit Literature*, Bombay, 1962, pp. 281-82.

५. *Viṣṇudharmottara-Purāṇa*–Third Khaṇḍa, Vol. I-Edited by Dr. Miss P. Shah, Baroda, 1958, (अतःपर 'विष्णु' संक्षेप से निर्दिष्ट) p. 13

६. *Saptapadārthī* of *Ś*ivāditya-edited by D. Gurumurti, Madras, 1932 (अत:पर 'सप्तपदार्थी' संकेत से उल्लिखित)

७. सप्तपदार्थी में नियोग युक्ति के लगभग २५ उदाहरण अथवा प्रयोग प्राप्त होते हैं। उन सबका उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है। उपलक्षणात्मक उदाहरणों से विषय का बोध हो जाएगा।

८. निर्देश युक्ति का प्रयोग भी सप्तपदार्थी में लगभग पन्द्रह बार हुआ है। उपर्युद्धृत उदाहरण-द्वय की सहायता से विषय ज्ञान हो जाएगा। इस लिए विस्तार को टाला गया है। परन्तु, यहाँ और एक प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करना आवश्यक है। 'विष्णु' में दो पृथक् युक्तियाँ पायी जाती हैं—उद्देश एवं निर्देश। अन्य प्राय: सभी शास्त्रकार 'उद्देश' मात्र का ही स्वीकार करते हैं। उदाहरण के लिए, सप्तपदार्थी में ही 'संज्ञामात्रेण पदार्थानां अभिधानं उद्देश:।' (सप्तपदार्थी, पृ. १३७, सूत्र १८२) लक्षण पाया जाता है। ऐसी स्थिति में निर्देश की पृथक् सत्ता क्यों मानी जाए? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि, ग्रन्थकार कभी-कभी सर्व अभिप्रेत पदार्थों का उल्लेख न कर 'प्रभृति, इत्यादि, आदि' इत्यादि अव्ययों के द्वारा उनका समुच्चय कर लेते हैं। उदाहरण के लिए, हेमचन्द्र ने 'सतोऽप्यनिबन्धोऽसतोऽपि निबन्धो नियमश्छाया-द्युपजीवनादयश्च शिक्षा:।' ('शासन', पृ. ९) सूत्र में 'आदि' पद का प्रयोग दो बार किया है और आगे वृत्ति में (तत्रैव, पृ. ११ एवं १२) इन दो 'आदि' पदों का स्पष्टीकरण किया है। इस प्रकार स्पष्टीकरण की अपेक्षा रखनेवाला 'आदि'—पदयुक्त उल्लेख संक्षिप्त होता है। ऐसे उल्लेखों की व्यवस्था करने हेतु 'विष्णु' में उद्देश (संक्षिप्त वचन) एवं निर्देश (विस्तृत वचन) युक्तियों का स्वीकार किया गया है।

९. वामन ने, तालिका में निर्दिष्ट चौबीस युक्तियों के अतिरिक्त, 'पदकृत्य' का भी प्रयोग कुछ स्थानों पर किया है। उदाहरण के लिये, द्रष्टव्य 'अतद्रूपस्यान्यथाध्वसानमति-शयार्थमुत्प्रेक्षा' (–'सूत्र', पृ० ६७) सूत्रान्तर्गत 'अतिशयार्थम्' पद का पदकृत्य 'अतिशयार्थमिति भ्रान्तिज्ञाननिवृत्त्यर्थम्' शब्दों में पाया जाता है।

१०. Dr. S. K. De *History of Sanskrit Poeties*, Calcutta, complete revised edition, 1960, vol. II. p. 285.

११. 'प्रायेण दुर्बोधतया शास्त्रादिबिभ्यत्यमेधस: ॥'—
आचार्य भामह-विरचित 'काव्यालङ्कार', भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२. (अत:पर यह ग्रन्थ 'अलंकार' संक्षेप से निर्दिष्ट) पृ० १०७।

१२. 'स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं शास्त्रमप्युपयुञ्जते।'—अलंकार ५।३, पृ० १०७।

प्राचीन साहित्यिक वाद

संस्कृत साहित्य-विमर्शक राजशेखर का नाम सर्वपरिचित है। उसके द्वारा रचित 'काव्यमीमांसा' नामक संस्कृत ग्रन्थ भी प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ साहित्यविवेचनापूर्ण ग्रन्थों में अद्वितीय माना जाता है। इस ग्रन्थ में राजशेखर ने काव्य के विविध अंगों एवं उपांगों के विषय में विस्तृत तथा विवरणात्मक विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त ग्रन्थकार ने काव्य-विषयक अनेक मूलभूत तत्त्वों की साधार एवं सोदाहरण आलोचना की है। इसी प्रकार के एक विवादस्थल का परिचयपूर्वक परामर्श करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

काव्यमीमांसा' में उल्लिखित वादत्रयी

राजशेखर ने अपने ग्रन्थ के छठवें अध्याय के प्रारम्भ में पद एवं वाक्य के सोपपत्तिक विवेचन को समाप्त कर तत्पश्चात् 'गुणवदलङ्कृतञ्च वाक्यमेव काव्यम् ॥'[१] शब्दों में काव्य का विशेषलक्षण प्रस्तुत किया है। इस लक्षण को पढ़कर विचक्षण पाठकों के मन में कुछ प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे—गुणालङ्कारादियुक्त काव्य का निर्माण क्यों किया जाए ?; क्या उस काव्य के आस्वादन से समय बिताना योग्य तथा आवश्यक है ?; उस काव्य की समीक्षा का क्या प्रयोजन है ?; भिन्न शब्दों में कहा जाए तो पाठक के मन में काव्य की उपदेश्यता तथा अनुपदेश्यता को जानने की उत्कट इच्छा उत्पन्न होती है। उस इच्छा की पूर्ति करने के लिए ही राजशेखर ने निम्नलिखित तीन वादों का विस्तृत निरूपण किया है।[२]

१ "असत्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम् इत्येके ॥"[३]

अर्थात् 'काव्य में असत्य अर्थ का वर्णन किया जाता है, इसलिए काव्य के निर्माण, आस्वादन तथा आलोचन का उपदेश नहीं करना चाहिए, ऐसा कुछ प्राचीन आचार्यों का मत है।'

२. "असदुपदेशकत्वात्तर्हि नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इत्यपरे" ॥[४]

अर्थात् 'और कुछ चिन्तकों ने ऐसा विचार व्यक्त किया है कि, काव्य में असत् (असमीचीन या अनीतियुक्त) अर्थ (विचार या कल्पना) का उपदेश किया जाता है, अतः काव्य के निर्माण, आस्वादन तथा आलोचन का उपदेश नहीं करना चाहिए।'

३. "असभ्यार्थाभिधायित्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्' इति च केचित्" ॥[५]

अर्थात् 'और कुछ अन्य विचारकों का अभिप्राय है कि, काव्य में असभ्य (अश्लील) बातों का वर्णन किया जाता है, इसलिए काव्य के निर्माण, रसग्रहण तथा समीक्षण का उपदेश नहीं करना चाहिए।'

वादत्रयी के विशेष :

राजशेखर के द्वारा उक्त वादत्रयी का जो खंडन-मंडनपूर्वक प्रतिपादन हुआ है, उसका अध्ययन करने से पहले उक्त वादों की शब्दावलि कीं ओर ध्यान देना आवश्यक है। राजशेखर ने अन्तिम अर्थात् तीसरे वाद के विधान के निर्देश में 'च' कार प्रयुक्त किया है, जिससे वादों की कुल संख्या तीन थी, यह स्पष्ट हो जाता है। इससे यह अनुमान हो सकता है कि, राजशेखर के पूर्वकाल में इन वादों पर पर्याप्त साधक-बाधक विचार अवश्य हुआ होगा। दूसरी विशेषता यह है कि, प्रत्येक वाद के पुरस्कर्ता ने '(इस प्रकार के दोष से युक्त) काव्य का उपदेश नहीं करना चाहिए', ऐसा असंदिग्ध शब्दों में कहा है। इससे यह अनुमान होता है कि, 'असत्यत्व', 'असत्त्व' और 'असभ्यत्व' इन तीन कारणों से सम्पूर्ण काव्य-व्यवहार प्रौढ़बुद्धि विवेचकों की प्रखर आलोचना का विषय बन बैठा था। आक्षेपकों की दृष्टि से काव्य में असत्य तथा असभ्य बातों का साक्षात् शब्दों के द्वारा वर्णन किया जाता है और असत् बातों का तो उपदेश किया जाता है और इसीलिए काव्य अनुपदेश्य है। उपर्युक्त तीन आपत्तियाँ भिन्न-भिन्न विचारकों ने उठायीं होंगी और उन विचारकों के तीन वर्ग या सम्प्रदाय रहे होंगे।[६] निष्कर्ष-रूप में हम यह कह सकते हैं कि, राजशेखर के समय में समाज-हितैषी बुद्धिमान् पाठक काव्यव्यापार के विषय में अत्यन्त दक्ष एवं सतर्क थे। अब राजशेखर के द्वारा किये गये निरूपण का परामर्श करेंगे।

वाद पहला-काव्यगत वर्णन असत्य होता है।

इस पक्ष की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए राजशेखर ने निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है—

"भ्रश्यद्भूभुग्नभोगीश्वरफणपवनाध्मातपातालतालुः
त्र्युट्यन्नानागिरीन्द्रावलिशिखरखरास्फाललोलाम्बुराशिः।
उद्यन्नीरन्ध्रधूलीविधुरसुरवधूमुच्यमानोपशल्यः
कल्योद्योगस्य यस्य त्रिभुवनदमनः सैन्यसम्मर्द आसीत्" ॥[७]

अर्थात्—'राजा की सेना की भीड़ से तीनों लोकों में उथल-पुथल मच गयी। विशाल सैन्यभार से पृथ्वी दबने लगी, शेषनाग की भौंहें फटने लगीं, इस कारण शेषनाग ने वेदना से जो विषमय एवं उष्ण फूत्कार किया, उससे पाताल का तालु गरम हो उठा। इधर पृथ्वी पर सेना के संघर्ष से बड़े-बड़े पर्वतों के शिखर टूट-टूटकर समुद्र में गिरने लगे, और जलराशि में खलबली मच गयी। जब सेना की घनी धूल उड़कर स्वर्ग तक पहुँची तब उससे घबराकर देवांगनाएँ स्वर्ग की सीमा को छोड़कर भवनों के भीतर जा घुसीं। इस प्रकार राजा के सैन्य-सम्मर्द से तीनों लोकों का दमन होने लगा।'

आक्षेपकों के द्वारा उद्धृत निम्नलिखित परम्परागत श्लोक भी राजशेखर ने बड़ी तत्परता से प्रस्तुत किया है—

"दृष्टं किञ्चिददृष्टमन्यदपरं वाचालवार्तार्पितं
भूयस्तुण्डपुराणतः परिणतं किञ्चिच्च शास्त्रश्रुतम् ।
सूक्त्या वस्तु यदत्र चित्ररचनं तत्काव्यमव्याहतं
रत्नस्येव न तस्य जन्म जलधेर्नो रोहणाद् वा गिरेः ॥"[८]

अर्थात्—'काव्य में कुछ बातें प्रत्यक्ष होती हैं, तो कुछ अप्रत्यक्ष। कुछ बातें वाचाल कवियों की कल्पना से निर्मित होती हैं। कुछ पुराणकी-सी गप्पें होती हैं। कुछ शास्त्रीय होती हैं तो और कुछ कवियों का काव्यकौशल होती हैं। अतः ऐसा काव्य अनर्गल होता है। वह उस रत्न के समान होता है, जो न तो समुद्र से निकला है, न रोहण पर्वत से।'

चूँकि उक्त वर्णन में अमर्यादित अतिशयोक्ति है, इस लिए यह वर्णन असत्य है, यह स्पष्ट है। किन्तु, राजशेखर को यह विचारधारा सम्मत नहीं है। 'न' इति यायावरीयः।'[९] शब्दों में प्रस्तावना कर उसने निम्नलिखित सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है—

"नासत्यं नाम किञ्चन काव्ये यस्तु स्तुत्येष्वर्थवादः।
स न परं कविकर्मणि श्रुतौ च शास्त्रे च लोके च॥"[१०]

अर्थात्—'काव्य में वर्णनीय व्यक्ति या विषय के प्रति जो अतिशयोक्ति की जाती है वह असत्य नहीं, अपितु अर्थवाद होता है। ऐसी अतिशयोक्ति न केवल काव्य में पायी जाती है, अपि तु वेदों में, शास्त्र में तथा लोकव्यवहार में भी पायी जाती है।'

काव्य में अतिशयोक्ति होती है यह पूर्वपक्ष का अभिप्राय राजशेखर को भी विदित है। किन्तु दोनों की विचारधाराओं में अन्तर है। पूर्वपक्ष की दृष्टि से उस अतिशयोक्ति के कारण काव्य त्याज्य है। राजशेखर ऐसा नहीं समझता। वह अतिशयोक्ति पूर्वपक्ष को असत्य अर्थात् अविश्वसनीय लगती है, राजशेखर को वह वैसी नहीं प्रतीत होती। इस विषय के बारे में राजशेखर का युक्तिवाद यह है कि, काव्य के निर्माण के लिए विषय का ग्रहण वेदों, शास्त्रों तथा लोकव्यवहार से किया जाता है। अर्थात् यह त्रयी काव्य के मूलभूत आधार हैं। इन आधारों में अतिशयोक्ति होती है और वह सर्वजनमान्य है। ऐसी स्थिति में इन आधारों पर आधृत काव्यों में अतिशयोक्ति अनिवार्य रूप से होगी। तो फिर उसका निषेध कैसे किया जा सकता है? मानो राजशेखर ने पूर्वपक्ष को पेच डालकर पूछा है, 'यदि आप अतिशयोक्ति के कारण काव्य का धिक्कार कर रहे हैं, तो उसके लिए वेदों, शास्त्रों तथा लोकव्यवहारों का धिक्कार क्यों नहीं करते? क्या उनका धिक्कार आप कर

सकेंगे ? यदि आप उनका अधिक्षेप करने में असमर्थ हैं तो केवल काव्य का अधिक्षेप करने में उद्यत क्यों हैं ? राजशेखर का यह युक्तिवाद बिल्कुल अकाट्य है। इस प्रकार इससे उसके बुद्धिवादी दृष्टिकोण का परिचय भी मिलता है, तथा श्रुतिगत असत्यता को प्रकट करने में उसकी धृष्टता भी प्रतीत होती है। (राजशेखर ब्राह्मण था, यह ध्यान में रखते हुए तो यह धृष्टता विशेष रूप से मनपर अंकित होती है !) राजशेखर ने निम्नोद्धृत पद्यों के द्वारा श्रुति, शास्त्र तथा लोकव्यवहार में होनेवाली असत्यता को स्पष्टतया प्रकट किया है—

श्रुतिगत असत्य—"पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलेग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः" ॥[११]

अर्थात्—'हे तपस्विन्, चलनेवाले व्यक्ति की जाँघें सुदृढ़ होती हैं; उसमें आत्मा की वृद्धि होती है और उसे आरोग्य रूप फल मिलता है। चलनेवाले के सभी पाप नष्ट होकर सो जाते हैं।'

शास्त्रगत असत्य—'आपः पवित्रं प्रथमं पृथिव्यामपां पवित्रं परमं च मंत्राः।
तेषां च सामर्ग्यजुषां पवित्रं महर्षयो व्याकरणं निराहुः" ॥[१२]

अर्थात्—'पृथ्वीपर सबसे अधिक पवित्र वस्तु जल है, जल से अधिक पवित्र मन्त्र हैं, उन मन्त्रों में भी ऋक्, यजुस् और साम के मन्त्र पवित्रतम हैं, किन्तु महर्षिगण व्याकरणशास्त्र को इन वेदत्रयी के मन्त्रों से भी अधिक पवित्र मानते हैं।

लोकव्यवहारगत असत्य—"गुणानुरागमिश्रेण यशसा तव सर्पता।
दिग्वधूनां मुखे जातमकस्मादर्द्धकुङ्कुमम्" ॥[१३]

अर्थात्—'हे राजन् ! तुम्हारे गुण और अनुराग से मिले हुए यशने चारों ओर फैलते हुए दिशारूपी वधूओं के ललाटों पर आधा कुंकुम-तिलक लगा दिया। (गुणों का रंग श्वेत माना गया है, और अनुराग का लाल। इसलिए आधा तिलक हुआ।)

ऊपर के तीन पद्यों में क्रमशः भ्रमण, व्याकरण तथा नृपशौर्य की महिमा का वर्णन अभिप्रेत है। यद्यपि ये तीनों वर्णन अतिशयोक्तिपूर्ण हैं, फिर भी ये साभिप्राय होने से आक्षेपार्ह नहीं माने जाते हैं। इस प्रकार काव्यगत असत्य का अर्थात् अतिशयोक्ति का प्रतितिपूर्ण समर्थन राजशेखर ने किया है।

वाद दूसरा—काव्य में अनीति का उपदेश होता है—

इस पक्ष के समर्थकों की भूमिका को स्पष्ट करने हेतु राजशेखर ने यह श्लोक उद्धृत किया है—

"वयं बाल्ये डिम्भांस्तरुणिमनि यूनः परिणता-
वपीच्छामो वृद्धान्परिणयविधेस्तु स्थितिरियम्।
त्वयारब्धं जन्म क्षपयितुममार्गेण किमिदं
न नो गोत्रे पुत्रि क्वचिदपि सतीलाञ्छनमभूत्" ॥[१४]

अर्थात्—(एक वेश्यामाता अपनी पुत्री को उपदेश करती हुई कहती है) 'हे कन्या, हम वेश्याओं की विवाह विधि यह है कि, बचपन में लड़कों को, युवावस्था में युवकों को और इस वृद्धावस्था में भी वृद्धों को चाहती हैं—यह वेश्याधर्म है। तुमने अमार्ग से जीवन व्यतीत करने की यह क्या सोच ली? हमारे कुल में पातिव्रत्य का कलङ्क कभी नहीं लगा, जिसे आज तुम लगाने जा रही हो।'

काव्य के विरोधकों का कथन है कि, ऊपर जैसे काव्यों में विवाहसंस्था की दुर्गति का वर्णन किया गया है। इस प्रकार के वर्णन आर्य संस्कृति के विरुद्ध होने के कारण न केवल त्याज्य अपि तु गर्हणीय हैं। काव्यों में ऐसी ही अनीति का वर्णन बड़ी मीठी भाषा में किया जाता है। इसी लिए काव्य निषिद्ध हैं।

विरोधकों की इस भूमिका का खण्डन करते हुए राजशेखर कहता है—

"अस्त्ययमुपदेशः किन्तु निषेध्यत्वेन न विधेयत्वेन' इति यायावरीयः। य एवंविधा विषयः परस्त्रीषु पुंसां सम्भवन्ति तानवबुध्येतेति कवीनां भावः। किञ्च कविवचनायत्ता लोकयात्रा। 'सा च निःश्रेयसमूलम्' इति महर्षयः। यदाहुः—

'काव्यमय्यो गिरो यावच्चरन्ति विशदा भुवि।
तावत्सारस्वतं स्थानं कविरासाद्य मोदते।'

उक्तञ्च—**"वल्मीकजन्मा स कविः पुराणः कवीश्वरः सत्यवतीसुतश्च।**
यस्य प्रणेता तदिहानवद्यं सारस्वतं वर्त्म न कस्य वन्द्यम्" ॥[५५]

अर्थात्—'इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह उपदेश है। किन्तु यह उपदेश निषेधपरक है, विधिपरक नहीं, ऐसा राजशेखर का मत है। वेश्यागामियों को वेश्याओं के कुत्सित चरित्र का ज्ञान हो, वे उन्हें पतिव्रता समझने की भूल न करें, यह कवि का अभिप्राय है। क्योंकि प्रापञ्चिक व्यवहार कवियों के वचनों पर आधृत हैं। और वैसे प्रापञ्चिक व्यवहार मानव के लिए कल्याणकारी होते हैं ऐसा महर्षि कहते हैं। जैसा कि कहा गया है—

जब तक विशुद्ध काव्यमयी वाणी का पृथ्वीपर संचार-प्रचार रहता है, तब तक कवि सरस्वती के लोक में स्थान पाकर आनन्द प्राप्त करता है। पुनः, जिस सारस्वत मार्ग के प्रथम प्रवर्तक प्राचीन मुनि वाल्मीकि एवं महर्षि व्यास हैं वह निर्दोष सारस्वत मार्ग किसके लिए वन्दनीय नहीं है?'

राजशेखर ने यहाँ पर काव्य तथा नीति के अन्योन्यसम्बन्ध के विषय की समस्या उठायी है। उसका यह दृष्टिकोण है कि, जिस किसी काव्य में अनीतिपोषक उपदेश प्रथमावलोकन के समय प्रतीत होता है, उस काव्य की गहराई में जाकर उसके निर्माण के हेतु का अन्वेषण करना चाहिए। यदि वह हेतु नीतिपोषक अर्थात् सांस्कृतिक विचार-

धारा के अनुकूल हो, तो वह काव्य, कदापि त्याज्य न होकर आस्वाद्य ही होता है। अर्थात् यह निष्पन्न होता है कि, यदि काव्यनिर्माण का हेतु नीतिघातक हो तो काव्य कदापि ग्राह्य न होकर अनास्वाद्य ही होता है। इस चर्चा के मध्य राजशेखर ने यह भी सूचित किया है कि, सम्पूर्ण समाज में कवि का उच्च एवं आदरणीय स्थान है और समाज के नेतृत्व का श्रेष्ठ दायित्व उस पर है। इसके अतिरिक्त राजशेखर यह भी सूचित करना चाहता है कि, कवि पर सामाजिक नेतृत्व की जिम्मेदारी रहती है, इसलिए वह सर्वदा सामाजिक नीति के अनुकूल काव्य का ही निर्माण करता है, प्रतिकूल काव्य का निर्माण कदापि नहीं करता। कदाचित् यदि वह समाजहित के प्रतिकूल काव्य का प्रणयन करता भी है तो वह न केवल अपनी स्वतः की अपितु वाल्मीकि एवं व्यास जैसे प्राचीन महनीय एवं वन्दनीय पूर्वजों की भी दुष्कीर्ति करता है। निष्कर्ष रूप में ऐसा प्रतीत होता है कि, इस गृहीतकृत्य पर कि, सच्चा कलाकार समाजहित के विषय में नित्य दक्ष होता है और वह अपना कलासृजन समाजहित की बुद्धि से प्रेरित होकर ही करता है, राजशेखर ने कला-नीति-वाद का निर्णय किया है। उसकी यह समस्त विचारधारा निःसंशय विचार-प्रवर्तक है।

वाद तीसरा—काव्य में अश्लील वर्णन होता है।

राजशेखर ने विरोधकों की विचारधारा को विशद करने हेतु निम्नलिखित पद्य को अवतरित किया है—

"नित्यं त्वयि प्रचुरचित्रकपत्रभङ्गीताडङ्कताडनविपाण्डुरगण्डलेखाः।
स्निह्यन्तु रत्नरशनारणनाभिरामकामार्तिनर्तितनितम्बतटास्तरुण्यः॥"[१६]

अर्थात्—'हे मित्र ! वे युवतियाँ तुमसे सदा प्रेम रखें, जिनके कपोल स्थल कर्ण-फूलों के निरन्तर हिलने से लाल हो रहे हैं और जो नितम्ब-भाग पर पड़ी हुई रत्न-मण्डित सुन्दर कांचियों को कामावेश में आकर निरन्तर नचाया करती हैं।'

काव्य के विरोधकों का कहना है कि, उक्त काव्य में अश्लील वर्णन है, अतः इस प्रकार के काव्य सर्वथा त्याज्य हैं।

ऊपर का वर्णन विपरीत रतिक्रीड़ा का है इस बात पर ध्यान देते ही आक्षेपकों की विचारधारा दुर्बल मालूम होती है। इसी को ध्यान में रखकर राजशेखर ने उत्तर पक्ष के रूप में कहा है—

"प्रक्रमापन्नो निबन्धनोय एवायमर्थः—इति यायावरीयः। तदिदं श्रुतौ शास्त्रे चोपलभ्यते।"[१७]

अर्थात्—'यायावरीय राजशेखर का मन्तव्य है कि, विशेष प्रसंग आनेपर ऐसे वर्णन करने पड़ते हैं और वे समुचित भी होते हैं। ऐसे अश्लील अर्थ का वर्णन वेदों तथा

शास्त्रों में भी पाया जाता है।' राजशेखर ने इस तत्त्व के प्रतिपादन के तुरन्त बाद श्रुतिगत अश्लीलता का निम्नोद्धृत उदाहरण-पद्य अवतरित किया है—

"योनिरुदूखलं शिश्नं मुशलं मिथुनमेतत् प्रजननं क्रियते ॥"[१८]

अर्थात्—'योनिरूप ऊखल और शिश्नरूप मूसल-इन्हीं दोनों का नाम मिथुन है, इस मिथुन से सन्तानोत्पत्ति होती है।'

बृहस्पति की रोमशा ने अपने पति को मैथुन के लिए आह्वान किया, तब उसके छोटे और रोमरहित अंगों को देखकर उसके पति ने हँस दिया, तब उसने अपने पति से जो कुछ कहा वह ऋग्वेद में इन शब्दों में वर्णित है—

'हे स्वामिन्! मेरे पास आइये और मेरा आलिंगन कीजिए। मुझे भोगयोग्य समझिये। मेरे शरीर के बालों को छोटा न समझिये। मेरे पूरे शरीर पर बाल हैं। जिस प्रकार गान्धार देश की भेड़ रोमवाली होती है, उसी प्रकार मैं भी रोमवाली हूँ।'[१९]

ऊपर के दोनों वर्णन विशेष प्रसंग के हैं, इसीलिए उनमें अश्लीलता या असभ्यता नहीं है, ऐसी राजशेखर की धारणा है।

शास्त्रगत अश्लीलता को स्पष्ट करने हेतु राजशेखर ने निम्नलिखित पद्य उदाहृत किया है—

"यस्याः प्रसन्नधवलं चक्षुः पर्यन्तपक्ष्मलम्।
नवनीतोपमं तस्या भवति स्मरमन्दिरम् ॥"[२०]

अर्थात्—'जिस स्त्री के नेत्र प्रसन्न तथा धवल होकर लम्बी पलकोंवाले होते हैं, उसका जननेन्द्रिय मक्खन के समान कोमल होता है।'

राजशेखर के अभिप्राय का तात्पर्य यह है कि, रतिशास्त्र में भिन्न-भिन्न जातियों की स्त्रियों की योनियों तथा उनकी विशेषताओं का वर्णन प्रसंगवश किया जाता है, इसी लिए वह अनुचित या अश्लील नहीं होता। इस तृतीय वाद के विषय में भी राजशेखर ने अत्यन्त तर्कशुद्ध विचारों को प्रतिपादित कर अपनी भूमिका के समर्थन में वेद-शास्त्र-गत अश्लीलता को भी बिना किसी संकोच के प्रकट किया है।

उपसंहार :

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, काव्यकला एवं सत्य, काव्यकला एवं नीति और काव्यकला एवं अश्लीलता ये चिन्तनविषय बहुत ही प्राचीन हैं। ईसवीय दशम शताब्दि के पहले ही ये विषय काव्यमीमांसकों को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होने लगे थे। उनके सामने प्रतिदिन संस्कृत-प्राकृत-अपभ्रंशादि भाषाओं में निबद्ध साहित्य विविध रूपों में आता रहता था और उस साहित्य के अवलोकन-पठन-पाठन-श्रवण-प्रेक्षण के कारण उक्त विषयों

की चर्चा प्रचुर मात्रा में होती रहती थी। किन्तु राजशेखर-पूर्वकालीन किसी भी काव्य-मीमांसक ने अपने ग्रंथ में इन विषयों की विवेचना नहीं की थी। इस प्रकार की विवेचना करनेवाला आद्य भारतीय काव्यचिन्तक राजशेखर ही है। उसने न केवल इन वादों की चर्चा की, अपितु इन वादों के विषय में अपना उत्तरपक्ष अत्यन्त निर्भयता के साथ प्रस्तुत किया। उसने पूर्ण तर्कशुद्ध, बुद्धिवादी एवं यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाकर पुरोगामी एवं कलावादी विचारधारा का पुरस्कार किया। उसने एक ओर परम्परा से आदरणीय माने गये वेदसाहित्य में रहनेवाले असत्य एवं अश्लील को स्पष्ट रूप में प्रकट किया और दूसरीं ओर यह भी दिखला दिया कि, समाज के एक प्रबुद्ध घटक के रूप में कवि (अर्थात् प्रत्येक ललितकला के निर्माता) का यह दायित्व है कि वह सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा करे। भिन्न शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि, राजशेखर ने यथार्थवाद एवं आदर्शवाद का समन्वय स्थापित किया है। उसका यह कार्य महत्त्वपूर्ण है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

ऊपर किये हुए विचार-विमर्श का निष्कर्ष इस प्रकार है—

(१) कुछ प्राचीन काव्यविचारकों ने काव्य पर तीन आक्षेप किये थे—काव्यगत वर्णन असत्य, अनीतियुक्त एवं अश्लील होते हैं।

(२) राजशेखर ने यह बताते हुए कि ये तीनों दोष वेदों, शास्त्रों एवं लोकव्यवहार में भी होते हैं, उक्त आक्षेपों का सोदाहरण खण्डन किया।

(३) काव्यमीमांसकों को चाहिए कि वे काव्यनिर्माण के हेतु पर ध्यान दें। यदि वह हेतु नीतिपोषक हो तो काव्य उपादेय होता है। उस हेतु के नीतिघातक होने पर काव्य त्याज्य होता है।

(४) कलाकार समाज का दायित्वशाली घटक है। उसको समाजहित की रक्षा कर्तव्यबुद्धि से करनी चाहिए।

(५) राजशेखर ही इस विषय का परामर्श करनेवाला आद्य विचारक होकर उसकी सम्पूर्ण विचारधारा निर्भय, बुद्धिवादी, औचित्यविवेक को प्रधानता देनेवाली, प्रागतिक एवं कलापक्ष का समर्थन करनेवाली है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. **राजशेखर**, कविराजराजशेखरविरचिता काव्यमीमांसा (अतःपर काव्यमी संक्षेप से उल्लिखित), सम्पादक पं० मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४, पृ० ८१

२. राजशेखर ने अपने ग्रन्थ में जिन विचारकों का निर्देश **आचार्याः** (काव्यमी पृ० १६, २१, ४९, ६२, ६५, ७४ इ०), **केचित्** (तत्रैव पृ० १९, २२, ८४, ८९, ९१),

विद्वांस: (तत्रैव पृ० ७४) आदि शब्दों में किया है, उन्हीं विचारकों ने सम्भवत: ये आपत्तियाँ उठायी होंगी ।

३. काव्यमी पृ० ८१-८४ ४. तत्रैव पृ० ८९ ५. तत्रैव पृ० ९१

६. ऐसे कतिपय सम्प्रदाय **औद्‌भटा:** (काव्यमी पृ० १४०), **वामनीया:** (तत्रैव पृ० ६६, ६७, ९४), **औशनसा:** (तत्रैव पृ० २३), **बार्हस्पत्या:** (तत्रैव पृ० २३) आदि शब्दों में काव्यमीमांसा में निर्दिष्ट हैं ।

७. काव्यमी पृ० ८४-८५ ८. तत्रैव पृ० ८५ ९. तत्रैव

१० तत्रैव ११, तत्रैव १२. तत्रैव पृ० ८६

१३. तत्रैव पृ० ८९ १४. तत्रैव पृ० ८९-९० १५. तत्रैव पृ० ९०-९१

१६. तत्रैव पृ० ९१-९२ १७, तत्रैव पृ० ९२ १८. तत्रैव

१९ तत्रैव २०. तत्रैव

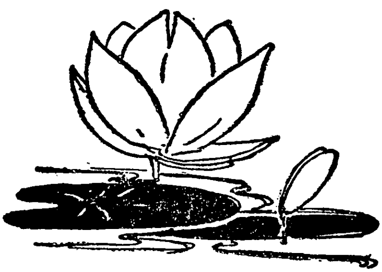

भाविक अलङ्कार

भाविक : एक परिवर्तित अलङ्कार

संस्कृत अलंकारशास्त्र में अनेक अलंकारों की कल्पना की गई है, यह बात सर्वविदित है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकार (अर्थात् काव्य के प्रसाधन) सर्व-परिचित हैं। जैसे-जैसे अलंकारशास्त्र का विकास होता गया, वैसे-वैसे उसके अनेक तत्त्वों में भी परिवर्तन होता गया। काव्य के सौन्दर्य के साधक धर्मों में भी अवस्थान्तर हुए। कुछ अलंकारों के प्राचीन-कल्पित स्वरूप में आंशिक परिवर्तन हुआ, तथा कुछ के स्वरूप में परवर्ती विचारकों के द्वारा कुछ अन्य छटाएँ समाविष्ट की गई। कुछ अलंकार भिन्न नामों से व्यवहृत होने लगे। कुछ नये अलंकार प्रचलित हुए तो कुछ अलंकार अपने अलंकारत्व को खो बैठे, जिससे वे सदा के लिए 'पदच्युत' हुए। 'भाविक' भी इसी प्रकार के स्थित्यन्तरों से प्रभावित अलङ्कार है। इसी लिए उसके स्थित्यन्तरों का ऐतिहासिक विकास अध्ययन-योग्य विषय है। प्रस्तुत निबन्ध में अलङ्कारशास्त्र के प्रथम युग में हुए 'भाविक' के परिवर्तनों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जा रहा है।

भारतीय अलङ्कारशास्त्र का प्रथम युग

ऊपर प्रयुक्त 'प्रथम युग' शब्दसंहति से लक्षित समय का स्पष्टीकरण आवश्यक है। भरतमुनि ने स्वप्रणीत नाट्यशास्त्र ग्रन्थ के 'काव्यलक्षण' नामक सोलहवें अध्याय में नाट्यगत काव्य के अलंकारों, गुणों एवं दोषों के विषय में अपने विचारों को व्यक्त किया है। भरतोत्तर काल में नाट्यनिरपेक्ष काव्य के विवेचन का आरम्भ हुआ। यद्यपि इस काल के मेधावी, रामशर्मा, आदि अलंकारशास्त्रकारों के नामनिर्देश भामहकृत 'काव्यालंकार' में हुए हैं, तथापि उनकी कृतियाँ अप्राप्त हैं। इस लिए भामह को ही भरतोत्तरकालिक उपलब्धकृति काव्यविवेचक मानना उचित होगा। भामह ने अपने शास्त्रग्रन्थ में भाविक अलंकार के लक्षण का प्रतिपादन एवं निरूपण किया है। दण्डीने, जो भामह के तुरन्त बाद हुआ, इस अलंकार के विषयमें विशेष रुचि प्रदर्शित की है और इस अलंकार का स्वरूप विस्तार से निरूपित किया है। दण्डी के बाद के उद्भट के वृत्तिकार प्रतीहारेन्दुराज के द्वारा इस अलंकार का विशद विवरण हुआ है। उद्भट के समकालीन वामन ने अलंकारशास्त्रान्तर्गत विषयों का संकलन, विभाजन एवं वर्गीकरण करते हुए समस्त शास्त्रीय विषयों का सुव्यवस्थित रूप से प्रतिपादन किया है, और उत्तरकालिक

अलंकारशास्त्रज्ञों के लिए पथप्रदर्शन का कार्य किया है। इस प्रकार वामन ने अलंकार-शास्त्र को 'स्वतन्त्र शास्त्र' की प्रतिष्ठा प्रदान की। इसी लिए वामन तक के कालखण्ड को (सन् ८०० ई० तक) हम भारतीय अलङ्कारशास्त्र का 'प्रथम युग' कह सकते हैं। इस युगमें 'भाविक अलंकार' के जो परिवर्तन हुए उनका विश्लेषण अब किया जाएगा।

भामहका 'भाविक' निरूपण

भामह ने 'भाविक' अलंकार का निरूपण इन शब्दों में किया है—

> "भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
> प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः॥
> चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
> शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते॥"—भामह ३/५३-५४

अर्थात्—'प्रबन्ध-विषयक गुण को भाविक कहते हैं। इसमें भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक पदार्थ वर्तमानकालिक प्रत्यक्ष से दिखाई देते हैं। भाविक का उत्पादक त्रिविध होता है। वे तीन विधाएँ हैं—(अ) पदार्थ की विचित्रता, उदात्तता एवं अद्भुतता, (आ) कथा की सम्यक् अभिनेयता और (३) प्रयुक्त शब्दों की अनाकुलता।

भामह के उक्त पद्यद्वय में निहित अभिप्राय को भलीभाँति समझ लेना आवश्यक है। संस्कृत काव्यशास्त्रकारों ने 'प्रबन्ध' शब्द को जिस व्यापक अर्थ में प्रयुक्त किया था[1] उस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि, प्रेक्षणीय, श्रवणीय, पाठ्य, अभिनेय, गेय, गद्यमय, पद्यमय, गद्यपद्यमय, संस्कृतैकमय, संस्कृतप्राकृतादिमिश्र आदि सर्व प्रकार के काव्यों का 'भाविकत्व' गुण है। यह गुण उत्पाद्य एवं अनुत्पाद्य प्रकार के काव्यों, कथाओं, आख्यायिकाओं, नाटकों, नाटिकाओं, महाकाव्यों आदि सर्व प्रकार के कविकर्मों में रहता है। चूँकि भाविकत्व गेय एवं अभिनेय काव्यों में रहता है, इस लिए भामह ने उसके लक्षण में 'स्वभिनीतता' शब्द को सन्निविष्ट किया है, यह ध्यान देने योग्य है। अब भामह ने अपने लक्षण में इसको गुण किस अर्थ में कहा है, इस पर हम विचार करेंगे।

इस विश्व में दो प्रकार के पदार्थ होते हैं—स्वतन्त्र और परतन्त्र। स्वतन्त्र पदार्थ को धर्मी कहते हैं और परतन्त्र पदार्थ धर्म कहलाता है। उस धर्म के भी दो भेद होते हैं। कुछ धर्म सिद्ध होते हैं, तो कुछ साध्य। क्रियाएँ होती हैं 'साध्य धर्म'

१—द्रष्टव्य अ. राजशेखर पृ० १४६, १५१, १७१, १७२, १७३, १९३ एवं ३२७

ब. रुद्रट १६/२ से ६ एवं ३३, पृ० १६७-१६८ एवं १७२

स. हेमचन्द्र पृ० ३७९, ३९१-३९५, ४०६, ४०८ इत्यादि।

और गुण होते हैं 'सिद्ध धर्म।'[१] इस दृष्टि से भाविकत्व काव्य का सिद्ध धर्म होता है। अर्थात् यह धर्म अर्जित न होकर सहज अथवा स्वाभाविक होता है। उसका प्रादुर्भाव कवि के काव्य के साथ ही होता है। वह गुण सत्काव्य में सदा रहता है। जब कवि अपने मन में संकल्पित काव्यसृजन के विषय में चिन्तन शुरू करता है, तब उसे उपयुक्त, प्रसङ्गोचित एवं कोमलकान्त पदावली का प्रतिभान होता है तथा कुछ वैचित्र्य-पूर्ण, उदात्त एवं अद्‌भुतरम्य कल्पनाओं का प्रस्फुरण होता है। और ये सब मिलकर काव्य में भाविकत्व का आविष्कार करते हैं। इसी लिए काव्यगत भूतकालिक तथा भविष्यत्कालिक पदार्थ मानो 'वर्तमान काल में हैं' ऐसा आभास उत्पन्न होता है। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि, भामह के द्वारा प्रतिपादित भाविकत्व न तो प्रसाद जैसा गुण है, अथवा न उपमा के समान अलंकार है। वह एक धर्मविशेष है जो काव्य की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होकर काव्य की समाप्ति तक जीवित रहता है। चूँकि वह एक काव्य-धर्म है और उससे काव्य में चमत्कृति उत्पन्न होती है, इसलिए उसे 'अलंकार' (सौन्दर्य का साधक) शब्द से सम्बोधित किया जाता है। भामह के आशय का और अधिक स्पष्टीकरण बाद में उद्‌भट के एतद्विषयक विचारों का विवेचन करते समय होगा। अब भामह के बाद के दण्डी के एतद्विषयक विचारों का परामर्श करेंगे।

दण्डी-प्रतिपादित 'भाविक' अलङ्कार

दण्डी की एतद्विषयक कारिकाएँ निम्न हैं—

'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि यः स्थितः॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमवशाद्‌गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः॥'

—दण्डी० २।३६१-३६३

अर्थात्—'प्रबन्धविषयक गुण को भाविकत्व कहते हैं। काव्य में प्रारम्भ से अन्त तक रहने वाले कवि के अभिप्राय को भाव कहते हैं। कथावस्तु के समग्र अंगोपांगों की परस्परपूरकता, निरर्थक विशेषणों का परिहार, समुचित वर्णन, गम्भीर विषय का भी सुबोध वर्णन, अर्थ की विशद अभिव्यक्ति आदि सब बातें भाव के अधीन होती हैं। इसी लिए उसे भाविक कहते हैं।'

१—उद्भट० पृ० ४६-४७

दण्डी के सम्पूर्ण आशय का रहस्य रत्नश्रीज्ञान-रचित 'रत्नश्री' टीका के अवलोकन के बिना परिज्ञात नहीं होगा। इसलिए रत्नश्री टीका को यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है। उस टीका का प्रासङ्गिक सम्बद्ध अंश इस प्रकार है—

"प्रबन्धः पद्यगद्यमिश्रात्मकस्त्रिविधः सन्तानः प्रबध्यते, विरच्यतेऽसाविति। स विषयो यस्य, स प्रबन्धविषयः काव्यसमुदायगोचरः। नैकदेशाधिकरणं तं प्रबन्धविषयं गुणं वि [89 B] शेषम्। अनुवादोऽयं भाविकत्वमिति। भाविकं नाम स्वार्थिकत्वादस्य विधेः। प्राहुरामनन्ति सूरय इति विधिः। सोऽपि न ज्ञायते कीदृशोऽसौ प्रबन्धविषयो गुण यदनुवादेन भाविकत्वं विहितमिति तं प्रभवतः स्वरूपतश्च दर्शयन्नाह—भाव इत्यादि। कवेः प्रबन्धकर्तुरभिप्रायः प्रबन्धनिर्वाहकः प्रयत्नविशेषो विकल्पात्मकः। यदाह—काव्येषु प्रबन्धेषु साध्येषु साधनरूपेण आसिद्धि प्रथमतः प्रभृति प्रबन्धविषयां सिद्धिं समाप्तिमधिकृत्य यः स्थितः तत्त्वव्यापकः स तादृशो भावस्तावत् प्रभवस्तस्य गुणस्य। अत एवासौ प्रबन्धविषयः। प्रबन्धसाधक भावसन्ता[ना] नुवर्तित्वात्, न प्रादेशिकः। ततश्च सर्वालङ्कार-[श्रय] भूतोऽसावादिमध्यान्तेषु प्रबन्धमनुवर्तते। एवं प्रभवतस्तावदुक्तः असौ गुण इति॥

"वस्तुनः प्रबन्धार्थस्य समुदायस्य पर्वाण्येव यथा नगरवर्णनादयः। वस्तुनि च तानि पर्वाणीति वा। वस्तुपर्वणां काव्यार्थसंघातसन्धीनाम् अङ्गानि समुदायपर्वणामिव परस्परस्योपकारित्वमन्योन्याङ्गाङ्गिभावेन सापेक्षाणामवस्थानम्। न तु स्वतन्त्राणामयःशलाकानामिव परस्परासंघट्टनम्। तथाभावातिरेके प्रबन्धो नारभ्येत। ततश्च कथमस्य प्रबन्धविषयता गुणस्य? प्रबन्धविषयं च यावत् किञ्चिद् विशेष्यं सम्भवति तत्र यानि विशेषणानि तेषां विशेषणानामुपाधीनां व्यर्थानां विगतोऽर्थः प्रयोजनं प्रस्तुते क्वचिदुपयोगो येषां यतो वा तेषां प्रकृतानुपयोगिनां कार्ये विवक्षिते क्वचिदङ्गभावमभजताम् अक्रिया तादृशं कञ्चिदर्थमनपेक्ष्य विशेषणमित्येवाप्रयोगः। किं तु सार्थकानां प्रकृते क्वचिद् कथञ्चित् उपयोगिनामेव क्रिया कस्यचिद् वस्तुनो यात्रादेः [?] स्थाने समुपनतेऽवसरे प्राप्तकालं वर्णनम्। तादृशं हि वर्णनमतिशोभते। यदाह भारविः—

मुखरतावसरे हि विराजते [किरातार्जुनीये ५-१६]

इति। न त्वप्राप्तावसरं वर्णयितव्यमित्येवं ज्ञेयम्। अत्र क्वचिदस्थाने वर्णनं तस्य सौभाग्योपहतत्वाद् गम्भीरस्यापि दुर्बोधस्य न केवलमविषयस्य वस्तुनः धर्मादिरूपस्यार्थस्य प्रस्तावोपनतस्य व्यक्तिः सुखप्रतिपत्तिः। कृताया उक्तेः प्रतिपादनस्य क्रमः प्रकारस्तादृशः करतलाम [50 A] लकवत् अर्थप्रकाशनकौशलस्वभावः तस्य वशात् सामर्थ्यात्! अत्र च सर्वत्र भावः एव सत्कवीनां प्रमाणम्। स हि सर्वमीदृशमुचितं विचिनोति, तद्विपर्ययं तु दुर्भगं न स्पृशति, यदाह—भावायत्तमिदं सर्वम्। इतीदमनन्तरोक्तं सर्वं वस्तु पूर्वं [व] दुपकारादिलक्षणं विशेषचतुष्टयं भावे प्रबन्धव्यापिनि उचितानुचितविवेकवेधसि मनसि

कवेरायत्तं प्रतिबद्धम्, तत्कार्यत्वादिति हेतोः । तत्सर्वमनन्तरोक्तं विदुर्विदन्ति तद्विदः कवयः ।

"ननु जात्यादिकमपि भाविकमेव, न हि तस्यापि विना भावेन अभिनिवृत्तिः । तत्किमिदमेव भाविकम् ? उच्यते—पद्येऽप्येवम् । तथापि यो भाव [:] प्राबन्धिको विशिष्टः, तदायत्तमिह भाविकमभिप्रेतम् । अत एवोक्तम्—काव्येष्वासिद्धिः यः स्थितः [२.३६१] इति, जात्यादिकं तु प्रादेशिकभावाधीनम् । न हि प्रबन्धानुवर्तिना एकेन भावेन जात्यादिकं जन्यते प्रतिदेशमन्योन्यभावाभिनिवर्त्यवात् तस्य । तस्मात् तदन्वर्थैस्तैस्तैरभिधानैर्यथोक्तेन विधिना व्यवह्रियते न भाविकमिति ॥" —'दण्डी' पृ० १९६-१९८.

ऊपर उद्घृत 'रत्नश्री' टीका का सारांश यह है—दीर्घ रचना को प्रबन्ध कहते हैं । प्रबन्ध त्रिविध होते हैं—पद्यात्मक, गद्यात्मक और उभयात्मक । ऐसे प्रबन्ध को विषय बनाकर रहनेवाले विशेष को भाविक कहते हैं । प्रबन्धकर्ता के अभिप्राय को अर्थात् प्रबन्ध का निर्वाह करनेवाले विशिष्ट प्रयत्न को भाव कहते हैं । यह साधनरूप भाव साध्यरूपी प्रबन्ध में आदि से अन्त तक रहता है । इस प्रकार वह प्रबन्धव्यापक अथवा प्राबन्धिक होता है, प्रादेशिक नहीं । यह भाव प्रबन्ध के आदि, मध्य तथा अन्त में रहने के कारण अन्य सभी अलंकारों का आश्रयदाता होता है । काव्य मानो अवयवी होता है, तद्गत नगरादिकों के वर्णन अवयव होते हैं । इन दोनों में अंगांगिभाव अर्थात् परस्पर-सापेक्षता रहती है । निष्प्रयोजन विशेषणों का वर्णन टालना चाहिए । सार्थक वर्णनों से ही काव्य की शोभा बढ़ती है । दुर्बोध विषय का भी वर्णन ऐसे अर्थप्रकाशक शब्दों में होना चाहिए कि, उसे पढ़कर तत्काल अनायास अर्थ स्पष्ट हो । इन सब बातों के विषय में सत्कवि का भाव ही प्रमाण होता है, क्यों कि उस भाव की सहायता से उचित वस्तु का चयन तथा अनुचित वस्तु का परिहार होता है । वैसे देखा जाए तो न केवल जात्यादि अलंकार; अपि तु पद्य भी कवि के भाव के ही अधीन होता है । परन्तु, जात्यादि (अर्थात् स्वभावोक्त्यादि) अलंकार उन-उन स्थलों में रहनेवाले भावों के अधीन होते हैं, अर्थात् वे प्रादेशिक भाव के अधीन हैं । इस लिए उनको जाति, उपमा, रूपक आदि नामों से संबोधित किया जाता है । भाविक उनसे इस अर्थ में भिन्न होता है कि, वह पूरे प्रबन्ध का अनुवर्तन करता है, वह भाव प्राबन्धिक होता है और इसी लिए उसके अलंकार होनेपर भी उसे 'भाविक' नाम से ही सम्बोधित करते हैं ।

भामह और दण्डी के एतद्विषयक विचारों की परस्पर-तुलना करने पर यह प्रतीत होता है कि वे दोनों निम्नलिखित बातों में एक दूसरे से सहमत थे—

(अ) 'भाविक' प्राचीनोक्त अलंकार है, (आ) 'भाविक' प्राबन्धिक होता है और (इ) काव्यगत अर्थ की अभिव्यक्ति तत्काल होनी चाहिए ('शब्दानाकुलता' —'भामह'

३/५४ और 'व्यक्तिरुक्तिक्रमवशात्···।' 'दण्डी' २/३६३)। इस तीसरी बात के बारे में दोनों की विचारधाराओं में एक सूक्ष्म भेद यह है कि, भामह अर्थ की सुखप्रतिपत्ति को भाविक का निष्पादक मानता है तो दण्डी की दृष्टि से वह निष्पाद्य है। ऊपर की तीन बातों को छोड़ कर और किसी बात के विषय में दोनों के मन्तव्यों में साम्य नहीं है, मानो दोनों के संप्रदाय ही भिन्न हैं।

रत्नश्रीज्ञान की टीका की विश्वसनीयता के विषय में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है। क्यों कि, एक बात तो यह है कि, दण्डी के ग्रन्थ का प्रचार एवं प्रसार दक्षिण भारत तथा सीलोन में प्राचीन युग में बहुत था। सीलामेघसेन (Silameghasena) नामक किसी सीलोनी राजा (सन् ८४६-८६६ ई०) ने सिंहली भाषा में 'सियाब्रल्कार' नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी जिसके ४०० पद्यों में से अधिकांश पद्य दण्डी के ग्रन्थान्तर्गत पद्यों के अनुवाद मात्र थे, इस बात को डॉ० पन्नासारा[१] ने सप्रमाण सिद्ध किया है। संघरक्षित नामक किसी बौद्ध भिक्षु द्वारा पाली भाषा में 'सुबोधालङ्कार' नामक साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रणीत हुआ था। उसके भी कुछ पद्य दण्डी के 'काव्यलक्षण' ग्रन्थगत पद्यों के अनुवादरूप हैं, ऐसा प्रो० अनन्तलाल ठक्कुर और उपेन्द्र झा का कथन है।[२] संघरक्षित भी सीलोन का निवासी था, इस बात का विस्मरण नहीं होना चाहिए। रत्नश्रीज्ञान सिंहली था। इसके सम्बन्ध में वह स्वयं कहता है—'कृतिरियमाचार्यरत्नश्रीज्ञानस्य सिंहलजन्मनः॥'[३] इस उल्लेख के आधार पर यह मान लेना कि, रत्नश्रीज्ञान ने दण्डी के ग्रन्थ का अध्ययन गुरुमुख से किया था अतः उसका निरूपण विश्वसनीय है, गलत नहीं होगा। रत्नश्रीज्ञान की टीका का निर्माण सन् ९३१ ई० में हुआ था,[४] अर्थात् वह टीका बड़ी प्राचीन है और इस लिए भी प्रामाणिक मानी जा सकती है।

'भाविक' अलङ्कार और भट्टेन्दुराज

अभी तक भामह और दण्डी के 'भाविक'-विषयक मन्तव्यों का परामर्श किया गया। अब उद्भट की इस सम्बन्ध में क्या धारणाएँ थीं, इसका विचार करेंगे। उद्भट ने अपने 'काव्यालङ्कारसारसंग्रह' में भाविक का लक्षण इन शब्दों में किया है—

1. Dr. D. Pannasara— Sanskrit Literature Extant among the Sinhalese and the Influence of Sanskrit on Sinhalese, Ceylon 1958, pp. 22-23.
२. 'दण्डी' Introduction, p. 21.
३. तत्रैव, पृ० २८२.
४. तत्रैव, भूमिका पृ० ३०.

'प्रत्यक्षा इव यत्रार्था दृश्यन्ते भूतभाविनः ।
अत्यद्भुताः स्यात्तद्वाचामनाकुल्येन भाविकम् ॥' —'उद्भट' ६।६

यह स्पष्ट है कि, उद्भटोक्त इस लक्षण-कारिका की रचना भामह के एतद्विषयक पद्य के आधार पर हुई है। उद्भट के मन्तव्यों के रहस्य का उद्घाटन उसके ग्रन्थ की वृत्ति लिखनेवाले प्रतीहारेन्दुराज ने किया है। इस लिए उस वृत्ति को समझ लेना आवश्यक है। उक्त 'वृत्ति' इस प्रकार है—

"....तत्र वाचामनाकुलता व्यस्तसम्बन्धरहितलोकप्रसिद्धशब्दोपनिबन्धात् झगित्यर्थ-प्रतीतिकारिता। तस्यां हि सत्यां कवेः सम्बन्धी यो भावः आशयः शृङ्गारादिसंवलितचतुर्वर्गोपायभूतविशिष्टार्थोल्लेखी स कविनेव सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन तत्तत्काव्यप्रति-बिम्बितरूपतया साक्षात्क्रियते। श्रोतॄणामपि हि तथाविधस्वच्छशब्दानुभवद्रावितान्तरात्मना सहृदयानां स्वाभिप्रायप्रतिमुद्रा तत्र संक्रामति। अतः कवेर्योसावभिप्रायस्तद्गोचरीकृता भूता भाविनोऽपि पदार्थास्तत्र सहृदयैः श्रोतृभिः स्वाभिप्रायाभेदेन प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते। यथा चात्र शब्दगतमनाकुलत्वमनन्तरोक्तेन प्रकारेण हेतुस्तथार्थगतमपि चित्रोदात्तार्थोपनिबन्धहेतु-कमत्यद्भुतत्वं द्रष्टव्यम्। तदुक्तं भाविकमुपक्रम्य भामहेन—

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायां स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतूम्प्रचक्षते॥ इति।

स्वभिनीततेत्यभिनयादिद्वारेण शृङ्गारादिरससंवलितत्वं चतुर्वर्गोपायस्योक्तम्। तदेवमेवंविधहेतुनिबन्धनं कविश्रोतृभावद्वितयसंमीलनात्मकं भाविकं द्रष्टव्यम्। अत एव चात्र कविसंबन्धिनो भावस्य श्रोतृभावाभेदाध्यवसितस्य पुरःस्फुरद्रूपस्य विद्यमानत्वाद्भाविक-व्यपदेशः। भावोस्मिन्विद्यते इति भाविकम् ॥'—उद्भट पृ० ७९-८०

प्रतीहारेन्दुराज के भाष्य का सारांश यह है—जिन शब्दों के अन्योन्यसंबंध क्लिष्ट नहीं हैं और जो शब्द लोकप्रसिद्ध हैं, उनके प्रयोग से अर्थ का बोध तत्काल हो जाता है। उस अर्थबोध के होने पर कवि से सम्बद्ध आशय का, जो काव्य में प्रतिबिम्बित हुआ करता है, सहृदय रसिक साक्षात् अनुभव करते हैं। यह आशय शृंगारादि रसों से युक्त, चार पुरुषार्थों का उपायभूत और विशेष अर्थ से मण्डित होता है। रसिकों को जब उसका साक्षात् अनुभव होता है तब उन्हें वह अपना ही भाव लगता है। अन्य शब्दों में यह कह सकते हैं कि कवि और सहृदय की मानसिक एकरूपता होती है, जिससे कवि को जो अनुभव जिस उत्कटता के साथ होता है, सहृदय को भी वही अनुभव उतनी ही उत्कटता से होता है। कवि के द्वारा प्रयुक्त प्रसादगुणपूर्ण शब्दों से सहृदयों के अन्तःकरण द्रवीभूत होते हैं और उनमें कवि-अभिप्राय का संक्रमण उनके निजी अभिप्राय-सा होता है। इसी लिए कवि के अभिप्राय को जो भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक पदार्थ गोचर होते हैं वे श्रोताओं को

अपने ही अभिप्राय के रूप में मानो प्रत्यक्ष दीख पड़ते हैं। यह सब प्रतीति शब्दगत अनाकुलत्व के कारण होती है। उसी प्रकार अर्थगत अद्भुतत्व भी वैचित्र्यपूर्ण एवं उदात्त अर्थों के निबन्धन का कारण होता है। भामह ने अपनी लक्षणकारिका में यही कहा है। धर्मादि चार पुरुषार्थों का उपायभूत अर्थ शृंगारादि रसों से युक्त होता है और वह क्वचित् अभिनयादि के द्वारा अभिव्यक्त होता है, इस बात को ध्यान में रखकर भामह ने 'स्वभिनीतता' शब्द की योजना की है। इस प्रकार कवि एवं श्रोता के भाव के मीलन के रूप का भाविक होता है। चूँकि इसमें रसिक को कविसम्बद्ध भाव की प्रतीति अभेदाध्यवसाय से होती है, इस लिए इसको भाविक कहते हैं।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होगा कि, उद्भट-प्रतीहारेन्दुराज का पंथ दण्डी से बिल्कुल भिन्न है। दोनों वर्गों में 'भाव' के विषय में ही मूलभूत मतभेद है। कवि-सहृदयों की मानसिक एकरूपता, भूतकालिक एवं भविष्यत्कालिक पदार्थों का साक्षात्कार और कथा की स्वभिनीतता इन तीन बातों का निर्देश दण्डी के विवेचन में नहीं पाया जाता है। दण्डी ने भाविक और अन्य अलंकारों के परस्पर-संबंध पर प्रकाश डाला है, परन्तु भामह-उद्भट ने इस विषय को स्पर्श तक नहीं किया है। और भी एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि, यद्यपि प्रतीहारेन्दुराज दण्डी के ग्रन्थ से परिचित था[1], तथापि उसने 'भाविक' की चर्चा करते हुए दण्डी का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। इन भिन्नताओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि, भामह, उद्भट एवं प्रतीहारेन्दुराज का दृष्टिकोण दण्डी के दृष्टिकोण से भिन्न था। भामहादि की विचारधारा अलग थी और दण्डी एवं रत्नश्रीज्ञान (तथा सिलामेघसेन और संघरक्षित) की विचारधारा अलग थी। परन्तु, इस भेद के होने पर भी उक्त दोनों विचारप्रणालियों में यह साम्य अवश्य था कि 'भाविक' प्रबन्धव्यापी होता है। दोनों वर्गों की कल्पनाएँ अपना-अपना महत्त्व रखती थीं और इसीलिए वे मननीय भी थीं। दोनों के साम्यवैषम्यों का सम्यक्तया बोध हो, इस दृष्टि से दोनों का संकलन नीचे की तालिका में किया गया है—

भामह-उद्भट का सम्प्रदाय	**दण्डी-रत्नश्रीज्ञान का सम्प्रदाय**
१. भाविक प्रबन्धविषयक सिद्ध धर्म है।	१. भाविक प्रबन्धविषयक विशेष है।
२. कविसम्बद्ध भाव शृङ्गारादियुक्त होकर चतुर्वर्गोपायभूत होता है।	२. प्रबन्धकर्ता कवि के अभिप्राय को भाव कहते हैं। वह प्रबन्ध की समाप्ति का उपायरूपी कवि-प्रयत्न-विशेष है।
३. कवि का भाव काव्य में प्रतिबिंबित होता है।	३. प्रबन्ध साध्य है, कवि का भाव साधन है। इस लिए वह भाव काव्य के प्रारम्भ से अन्ततक अवस्थित होता है।

१. द्रष्टव्य–'अत एव दण्डिना—' 'उद्भट' पृ० २८

४. 'भाविक' में भूत एवं भविष्यत्कालिक पदार्थों का साक्षात्कार होता है।	४. भाविक 'प्राबन्धिक' होने के कारण उपमादि 'प्रादेशिक' अलंकारों को आश्रय देता है।
५. इस भाव के कारण कवि के भाव का अनुभव सहृदय को अभेदरूप से होता है। दोनों के भावों का सम्मीलन होता है।	५. प्रबन्धगत कथांशों की परस्पर-सापेक्षता, प्रबन्धगत विशेष्यों के विशेषणों की सार्थकता, वर्णनों की स्थलकालोचितता, गूढ़ विषयों के प्रतिपादन की सुगमता आदि का नियन्त्रण कवि-भाव के द्वारा होता है।
६. कवि का शृङ्गारादि से युक्त भाव कभी-कभी अभिनय के द्वारा प्रकट होता है।	६. प्रबन्ध के सभी छोटे-बड़े अंग इस भाव के अधीन होते हैं।
७. चित्र, उदात्त एवं अद्भुत अर्थ, कथा की सम्यक् अभिनीतता और शब्दों की अनाकुलता भाविक के निष्पादक हेतु हैं।	७. उपमादि अलंकारों की निर्मिति प्रादेशिक भावों से होती है, प्राबन्धिक भाव से नहीं।
८. भाव के विद्यमान होने से इसको भाविक कहते हैं।	८. कवि के भाव से उत्पन्न होने वाला इस नाते भाविक कहलाता है।
९. भाविक अलंकार को प्राचीनों की मान्यता प्राप्त है।	९. भाविक विशेष प्राचीन विचारकों को भी सम्मत था।
१०. भाविक सकल प्रबन्ध-व्यापी रहता है।	१०. भाविक प्रबन्ध-व्यापी होता है।

उपसंहार

काव्य में आरम्भ से अन्त तक रहनेवाला एक तत्त्व होता है, यह भामहदण्डी-उद्भटादि विचारकों की कल्पना ही मौलिक है। परन्तु, इस मौलिक कल्पना के महत्त्व का आकलन ही परवर्ती काव्यशास्त्रकारों को नहीं हुआ। भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण के चतुर्थ परिच्छेद में भाविकत्व का स्वीकार शब्दार्थोभय अलंकार के रूप में किया है। केशवमिश्र के अलंकारशेखर में 'एक अर्थगुण' के रूप में भाविक का विवेचन पाया जाता है। तात्पर्य, प्रतीहारेन्दुराज एवं रत्नश्रीज्ञान के समय में ही (दोनों समसामयिक थे; प्रतीहारेन्दुराज का उत्कर्षकाल सन् ९२५-९५० ई० था।[1]) 'भाविक' के वैभव का

1. Dr. P. V. Kane—*History of Sanskrit Poetics,* Delhi, third revised edition, 1961, p. 425.

अस्त हुआ और वह अलंकार अलंकार-समुदाय से सदा के लिए निष्कासित-सा हुआ। इस लिए हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि, भाविक अलंकार की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के दर्शन भारतीय काव्यशास्त्र के प्रथम युग में ही हो जाते हैं।

भामहादि के ग्रन्थों के संस्करणों का विवरण—

उद्भट—श्रीमदुद्भटाचार्यप्रणीतः 'काव्यालंकारसारसंग्रहः'—परिष्कर्ता ना० द० बनहट्टी, पुणे, प्रथम आवृत्ति, १९२५।

दण्डी—'दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधानम्'काव्यलक्षणम्'—संस्कर्ता-प्रो० अनन्तलाल ठक्कुर और उपेन्द्र झा, दरभंगा, १९५७।

भामह—आचार्य भामह- विरचित 'काव्यालङ्कार'—भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, सन् १९६२ ई०।

राजशेखर—कविराजराजशेखरविरचिता 'काव्यमीमांसा'—हरिदास संस्कृतग्रन्थमाला १४, सम्पादक मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४।

रुद्रट—श्रीरुद्रटप्रणीतः 'काव्यालंकारः'—संशोधक दुर्गाप्रसाद व वा० ल० पणशीकर, काव्यमाला २, मुंबई, तृतीय आवृत्ति, १९२८।

हेमचन्द्र—श्रीहेमचन्द्रविरचितं 'काव्यानुशासनम्' सटीकम्-संशोधक शिवदत्त, काशीनाथ पाण्डुरंग परब व वा० ल० पणशीकर, काव्यमाला ७०, मुंबई १९३४।

राजशेखरवर्णित कवियों के प्रकार

१. मध्ययुग में राजशेखर नामक एक विद्वान् एवं विशाल साहित्य-निर्माता काव्यमीमांसक हो गया। उसने कर्पूरमंजिरी, हरविलास, बालरामायण, विद्धशालभंजिका आदि प्रसिद्ध ग्रंथों का निर्माण किया है। उक्त ग्रंथों में 'काव्यमीमांसा' नामक ग्रन्थ अपना विशेष स्थान रखता है। इस ग्रंथ में ग्रंथकार ने अनेकों विषयों का परामर्श किया है। उन विभिन्न विषयोपविषयों के विवेचन के प्रसंग में राजशेखर ने कवि एवं उससे प्रकार की भी चर्चा की है, जो 'काव्यमीमांसा' के चौथे, पाँचवें, ग्यारहवें तथा बारहवें अध्याय में पायी जाती है। उसी का संकलनपूर्वक निरूपण करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

२ प्रतिभानिष्ठ वर्गीकरण :

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा के चौथे अध्याय के प्रारम्भ में शिष्य, बुद्धि एवं काव्यहेतु आदि का विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् 'प्रतिभा कारयित्री तथा भावयित्री होती है' ('सा च द्विधा कारयित्री भावयित्री च।'[१]) ऐसा सिद्धान्तरूप में प्रतिपादित कर तदनन्तर कारयित्री प्रतिभा के सहजा, आहार्या एवं औपदेशिकी ऐसे तीन उपभेद परिगणित किये हैं।[२] इनमें से सहजा प्रतिभा पूर्वजन्म या इहजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है।[३] वर्तमान जन्म के विपुल संस्कारों के कारण उत्पन्न प्रतिभा को आहार्या कहते हैं[४] और मंत्रतंत्रादि उपदेश से जिसका निर्माण होता है वह औपदेशिकी प्रतिभा कहलाती है।[५] राजशेखर की यह विचारधारा है कि, प्रतिभा के प्रकारों के अनुसार कवियों के भी तीन प्रकार होते हैं। उसकी दृष्टि से कवियों के प्रतिभानिष्ठ तीन प्रकार हैं—सारस्वत, आभ्यासिक एवं औपदेशिक। इनमें से जिस कवि की प्रतिभा जन्मान्तर के पठन-लेखन-मननादि संस्कारों से उद्बुद्ध होकर कृतिशील बनती है उस कवि को 'सारस्वत कवि' कहते हैं। इस जन्म में किये हुए अध्ययन से जिसकी बुद्धि प्रकाशित एवं विकसित होती है तथा जिसकी वाणी काव्य गुनगुनाने लगती है उस बुद्धिमान् व्यक्ति को आभ्यासिक कवि कहते हैं। किन्तु, जिसकी बुद्धि स्वभावतः मन्द होने के कारण जो गुरु से मंत्रतंत्रादि उपदेश लेकर अपनी बुद्धि को तेजस्वी बनाता है और काव्य का निर्माण करता है, उसे औपदेशिक कवि कहते हैं।[६] अर्थात्, कवियों के दो परस्पर पृथक् प्रकार हैं—जन्मसिद्ध तथा संस्कारसिद्ध। कुछ आचार्यों का इस विषय में ऐसा मन्तव्य है कि, सारस्वत तथा आभ्यासिक वर्गों के कवियों को मंत्रतंत्रादि की कोई जरूरत नहीं है;[७] किन्तु राजशेखर को यह मन्तव्य नामंजूर है।[८] उसका कहना है कि, यदि किसी कार्य को दो प्रकारों से

संपन्न करने की चेष्टा की जाती है तो वह द्विगुणित कार्यक्षम होता है, मानो दूध में शक्कर पड़ती है।[९] राजशेखर द्वारा प्रणीत यह त्रिविध वर्गीकरण पूर्वाचार्यों को न केवल ज्ञात था अपितु उन्होंने इस विषय में विचारोत्तर दृढ़ भूमिका बनायी थी, जिसका परिचय श्यामदेव की उक्तियों में मिलता है। श्यामदेव के एतद्विषयक विचारों को राजशेखर ने निम्नलिखित पंक्तियों में उद्धृत किया है—

"तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान् । इति श्यामदेवः । यतः-
सारस्वतः स्वतंत्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः ।
औपदेशिककविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति ॥"[१०]

अर्थात्—'श्यामदेव की दृष्टि में औपदेशिक कवि से आभ्यासिक कवि श्रेष्ठ और आभ्यासिक कवि से सारस्वत कवि श्रेष्ठ होता है। अर्थात्, सारस्वत कवि सर्वश्रेष्ठ होता है। क्योंकि, सारस्वत सर्वथा स्वतन्त्र होता है, वह स्वेच्छानुसार छोटे या दीर्घ काव्य का निर्माण कर सकता है। उसका रचा हुआ प्रत्येक काव्य सर्वदा सुन्दर ही होता है। आभ्यासिक कवि की शक्ति सीमित होती है। उसके द्वारा रचित काव्य, सारस्वत कवि के द्वारा प्रणीत काव्य से कम सुन्दर होता है। औपदेशिक कवि का काव्य कभी अच्छा और कभी बुरा होता है। इसीलिए इन तीन कवियों में सारस्वत कवि ही अग्रस्थानीय एवं आदरणीय होता है।' श्यामदेव की इस विचारधारा से राजशेखर सहमत नहीं है। उसके विचारों के अनुसार गुणों का प्रकर्ष श्रेयस्कर होता है और वह गुणप्रकर्ष अनेक धर्मों के एकत्रित होने से सिद्ध होता है।[११] इस विषय को पल्लवित करते हुए राजशेखर ने युक्तिपूर्वक कहा है कि, बुद्धिमत्ता, काव्योपकारिणी विद्याओं का अध्ययन तथा कविरहस्यरूपा प्रतिभा इन तीन बातों का किसी एक ही व्यक्ति में पाया जाना बड़ा ही दुर्लभ है। इसीलिए जो कवि जन्मतः प्रखर बुद्धि से युक्त होता है, जिसने अनेक काव्यांगविद्याओं का परिश्रमपूर्वक अध्ययन किया है और जिसने गुरु से मंत्र ग्रहण किया है ऐसे कवि को शीघ्र ही 'कविराज' उपाधि प्राप्त होती है।[१२] राजशेखर ने इस युक्तिवाद के बाद कवियों के श्रेष्ठकनिष्ठत्व के बारे में विद्वानों में प्रचलित मन्तव्य को भी उद्धृत किया है, जिस मन्तव्य का आशय है कि, कुछ कवियों का काव्य केवल उनके घर ही में रहता है; कतिपय कवि ऐसे होते हैं जिनका काव्य उनके मित्रों के देहली तक पहुँच जाता है; किन्तु कुछ कवियों का काव्य उनके रसिकों के जिह्वा पर निरन्तर नर्तन करता रहता है।[१३] ऐसा काव्य इतना नितान्तरमणीय होता है कि उसके आस्वाद से रसिकगण आश्चर्यमुग्ध हो जाते हैं। अर्थात्, जिस कवि का काव्य सदा रसिकों के कुतूहल का विषय बन बैठता है वही सर्वश्रेष्ठ कवि है। एतावता राजशेखर की दृष्टि से उत्कृष्ट काव्य में प्रतिभा, बुद्धिमत्ता एवं प्रयत्न इन तीनों का समकालिक रहना आवश्यक है, इन तीन घटकों के सुन्दर समन्वय से ही रमणीय तथा चिरस्मरणीय काव्य का निर्माण होता है और ऐसा अपूर्व

काव्य दुनिया को सदैव चमत्कृतिपूर्ण प्रतीत होता है। इस विवरण के चिन्तन से यह प्रतीत होता है कि, अन्य आचार्यों ने प्रतिभाप्रभेदों को कविवर्गीकरण की नींव के रूप में माना है, तो राजशेखर ने उसके स्थान पर 'गुणप्रकर्ष' को माना है। राजशेखर की भूमिका बुद्धिग्राह्य प्रतीत होती है। उसके द्वारा किया गया चिरन्तन सरस काव्य का लक्षण भी मननीय है।

३. शास्त्रनिष्ठ वर्गीकरण :

राजशेखर के पूर्वसमय में भी यह विषय विवादग्रस्त हुआ था कि, काव्य के निर्माण में अधिक आवश्यक एवं उपकारिणी शक्ति व्युत्पत्ति है, या प्रतिभा। आनन्द, मंगल आदि काव्यमीमांसकों में इस विषय पर तीव्र मतभेद था, ऐसा उनके वचनों से[१४] प्रतीत होता है। राजशेखर ने इस विवाद-विषय का निर्णय समन्वयात्मक दृष्टि से करते हुए ऐसा प्रतिपादन किया है कि, प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति दोनों संयुक्त रूप में श्रेयस्कर होती है[१५] और जिस बुद्धिमान् पुरुष में प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों शक्तियाँ पूर्णरूप से विद्यमान होती हैं, उसे कवि कहते हैं।[१६] इस प्रकार राजशेखर ने कवि का लक्षण करने के पश्चात् कवियों का और एक वर्गीकरण इन शब्दों में प्रस्तुत किया है—**"स च त्रिधा। शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविश्च"**[१७] अर्थात्, 'इस कसौटी के अनुसार कवियों के तीन प्रकार होते हैं—१. शास्त्रकवि, २. काव्यकवि एवं ३. उभयकवि (अर्थात् शास्त्र-काव्य-कवि)।' किन्तु यह वर्गीकरण भी अविवाद्य नहीं रहा है। क्योंकि श्यामदेव ने इसके सम्बन्ध में अपना पृथक् चिन्तन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि, शास्त्रकवि की अपेक्षा काव्यकवि श्रेष्ठ है और काव्यकवि की अपेक्षा उभयकवि श्रेष्ठ है।[१८] किन्तु इस विषय पर राजशेखर श्यामदेव से सहमत नहीं है। उसने श्यामदेव की विचारधारा का खण्डन करते हुए अपने सन्तुलित एवं मार्मिक युक्तिवाद को स्थापित किया है। राजशेखर कहता है—**" 'न' इति यायावरीयः। यथा स्वविषये सर्वो गरीयान्। नहि राजहंसश्चन्द्रिकापानाय प्रभवति, नापि चकोरोऽद्भ्यः क्षीरोद्धरणाय। यच्छास्त्रकविः काव्ये रससम्पदं विच्छिनत्ति। यत्काव्यकविः शास्त्रे तर्ककर्कशमप्यर्थमुक्तिवैचित्र्येण श्लथयति। उभयकविस्तूभयोरपि वरीयान्यद्युभयत्र परं प्रवीणः स्यात्। तस्मात्तुल्यप्रभावावेव शास्त्रकाव्यकवी। उपकार्योपकारभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे। यच्छास्त्रसंस्कारः काव्यमनुगृह्णाति शास्त्रैकप्रवणता तु निगृह्णाति। काव्यसंस्कारोऽपि शास्त्रवाक्यपाकमनुरुणद्धि काव्यैकप्रवणता तु विरुणद्धि॥"**[१९]

अर्थात्—'श्यामदेव का कथन योग्य नहीं। क्यों कि सब कोई अपने-अपने विषय में उत्तम होते हैं। न राजहंस चन्द्रिकापान कर सकता है (उस कार्य की क्षमता चकोर में होती है।), और न चकोर ही जल और दूध को अलग-अलग कर सकता है (वह कार्य राजहंस ही कर सकता है।) जो शास्त्रकवि होता है वह काव्यगत रससंपत्ति को

छिन्न-विच्छिन्न कर देता है। जो काव्यकवि होता है वह शास्त्रगत तर्ककर्कश विषयों को उक्तिवैचित्र्य के द्वारा शिथिल कर देता है। उभयकवि दोनों में श्रेष्ठ है यदि वह दोनों विषयों में (अर्थात् शास्त्र एवं काव्य में) बहुत ही प्रवीण हो। इसी लिए शास्त्रकवि तथा काव्यकवि इन दोनों का प्रभाव समान होता है। दोनों में उपकार्य-उपकारक-भाव को हम ग्रहण करते हैं, क्योंकि शास्त्र का संस्कार काव्य का उपकार करता है, किन्तु केवल शास्त्र-प्रवीणता काव्य का निग्रह करती है। तथा च, काव्य का संस्कार भी शास्त्रीय विषय की परिणति का अनुवर्तन करता है, तो केवल काव्यगत प्रवीणता उस परिणति को विपरीत कर देती है।'

राजशेखर शास्त्रकवि तथा काव्यकवि इन दोनों के महत्त्व को मानते हुए भी शास्त्रैककवि या काव्यैककवि के महत्त्व को अमान्य करता है। उसकी दृष्टि से शास्त्र काव्य का एवं काव्य शास्त्र का उपकार अवश्य करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। किन्तु, शास्त्र एवं काव्य में से किसी एक का अतिरेक एक दूसरे की हानि ही करता है। इसी लिए राजशेखर चाहता है कि, उत्कृष्ट कवि को चाहिए कि, वह शास्त्र में भी प्रवीण हो और काव्यनिर्माण में भी निपुण हो। राजशेखर ने अपने सम्पूर्ण ग्रंथ में सर्वत्र मध्यम मार्ग को ही अपनाया है। वह ऐकान्तिक विचारों को सर्वदा वर्जित करता है। उसकी इस प्रवृत्ति का दर्शन प्रस्तुत प्रसङ्ग में भी होता है।

राजशेखर ने, उपर्युद्धृत स्पष्टीकरण के बाद, शास्त्रकवि के १ केवल शास्त्रीय विषय का निरूपण करनेवाला, २ शास्त्रीय विषय के विवेचन में काव्य की योजना करनेवाला और ३ काव्य में शास्त्रीय विषय की योजना करनेवाला ऐसे तीन भेद प्रदर्शित किये हैं और तत्पश्चात् काव्यकवि के निम्नलिखित आठ उपभेद भी कहे हैं—१ रचनाकवि, २ शब्दकवि, ३ अर्थकवि, ४ अलंकारकवि, ५ उक्तिकवि, ६ रसकवि, ७ मार्गकवि एवं ८ शास्त्रार्थ-कवि।[२०]

राजशेखर के उक्त वर्गीकरण को पढ़कर पाठक के मन में कुछ प्रश्न उत्पन्न होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि, जो केवल शास्त्रीय विषय का निरूपण करता है उसे (शास्त्र) कवि कवि क्यों कहते हैं ? 'कवि' उपाधि पर उसका अधिकार क्या है ? इस प्रश्न का यह समाधान हो सकता है कि, शास्त्रकवि वस्तुतः शास्त्रकार ही होता है, किन्तु वह अपना ग्रंथ पद्य में (जो कि काव्यसदृश होता है।) निबद्ध करता है और अपने ग्रंथ में अपने चिन्तनों, मन्तव्यों तथा उन्मेषों को पूर्णतया भर देता है (अर्थात् वह कवि माने विचारक या विमर्शक है।) इसी लिए उसे 'कवि' कहते हैं। दूसरी यह शंका उत्पन्न होती है कि, शास्त्रीय ग्रंथ के प्रणयन में काव्य की योजना करने से शास्त्र की गंभीरता, सटीकता एवं संक्षिप्तता की हानि होती है, जिसके फलस्वरूप शास्त्र विशुद्ध शास्त्र न रहकर शास्त्र एवं काव्य का संमिश्रण हो जाता है। शास्त्र का इस प्रकार का स्वरूप कदापि वांछनीय नहीं

होता। ऐसी स्थिति में 'शास्त्रकवि' यह प्रकार क्यों माना गया है ? इस शंका का समाधान सम्भवतः यह हो सकता है कि, शास्त्रचर्चा में काव्य की योजना करनेवाला कवि सर्व-साधारण के अवबोध के लिए शास्त्रचर्चात्मक ग्रंथ का निर्माण करता है तो केवल शास्त्रीय विषय का निरूपण करनेवाला (अर्थात् प्रथम प्रकार का शास्त्र कवि) कवि एक विशेषज्ञ होकर दूसरे विशेषज्ञ के अवबोध के लिए ग्रंथप्रणयन करता है। शास्त्रकवि के प्रथम दो प्रकारों में यह अन्तर होता है। काव्य में शास्त्रीय विषय की योजना प्रचुर मात्रा में तथा प्रधान रूप में नहीं हो सकती है। अर्थात् उस प्रकार की रचना में काव्य का प्राधान्य होकर शास्त्र का गौणत्व होता है। इसी लिए इस कोटि के कवि को शास्त्रकवि कहने के स्थानपर 'काव्यकवि' कहना ही समीचीन है और इस कवि-प्रकार का समावेश आगे जो काव्यकवि के आठ उपभेद परिगणित किये गये हैं उनमें अष्टम जो शास्त्रार्थकवि माना गया है, उसमें होना युक्तियुक्त है। संक्षेप में 'शास्त्रकवि' के तीन प्रकारों में से पहला यथार्थ अर्थ में कवि (निर्दोष, सगुण, सालंकृत एवं सरस शब्दार्थों द्वारा चतुर्वर्ग-परिपोषक एवं आल्हाददायक कृति का निर्माता) नहीं और तीसरे का न्याय्य स्थान शास्त्रकवि में न होकर काव्यकवि में है। अर्थात्, 'शास्त्रकवि' का एक ही प्रकार संभव है।

अब राजशेखर द्वारा परिगणित काव्यकवि के आठ प्रकारों पर थोड़ा विचार करेंगे। उसके विचारों के अनुसार काव्यकवि के अन्तर्गत शब्दकवि के नामकवि, आख्यातकवि एवं नामाख्यातकवि ऐसे तीन उपभेद होते हैं।[२१] उसी प्रकार अलङ्कारकवि के भी शब्दालङ्कारकवि एवं अर्थालङ्कारकवि नामक दो उपभेद होते हैं।[२२] इन उपभेदों का परामर्श करने के बाद अन्य मुख्य भेदों की चर्चा करेंगे। राजशेखर ने शब्दकवि के केवल तीन ही उपभेद माने हैं। वस्तुतः, नाम, सर्वनाम, क्रियाविशेषण, क्रिया (आख्यात), आदि शब्द की ही अनेक विभिन्न जातियाँ हैं। इनमें से प्रत्येक में प्रवीणता पानेवाले कवि का प्रकार स्वाभाविकतया भिन्न माना जा सकता है, जैसे सर्वनामों का सुचारु रूपसे प्रयोग करने वाला सर्वनामकवि, विशेषणों की समुचित योजना करनेवाला विशेषणकवि, क्रियाविशेषणों की अर्थसुन्दर योजना साधनेवाला क्रियाविशेषणकवि इत्यादि। किन्तु इस प्रकार वर्गों की कल्पना करना अर्थहीन है, इसीलिए राजशेखर के द्वारा कल्पित शब्दकवि के तीन प्रकार अनावश्यक प्रतीत होते हैं। शब्दकवि यह एकही प्रकार पर्याप्त है। 'अलङ्कारकवि के जो दो भेद राजशेखर द्वारा किये गये हैं उनमें से शब्दालङ्कारकवि वास्तव में कवि ही नहीं, क्योंकि केवल शब्दालङ्कारयुक्त रचना हीन अतएव हेय मानी गयी है। वस्तुतः किसी भी उत्तम काव्य में शब्द एवं अर्थ के अलङ्कार पाये जाते हैं, क्योंकि दोनों मिलकर काव्य की शोभा को बढ़ाते हैं। इस दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि, 'अलङ्कारकवि' माननाही पर्याप्त है, उसके उपभेदों की परिगणना करने में कोई वास्तविक लाभ नहीं। अब रचनाकवि आदि प्रकारों पर विचार करेंगे।

राजशेखर की विचारधाराके अनुसार जिस कवि की रचना में चमत्कृति होती है वह रचनाकवि होता है। जो कवि संज्ञा-शब्दों की वैशिष्ट्यपूर्ण योजना कर सकता है वह नामकवि कहलाता है। जिस की रचना में क्रियापरक शब्दों का आधिक्य होता है उसे रसिकगण आख्यातकवि कहते हैं। जिस कवि के काव्य में नाम तथा आख्यात को समान महत्त्व होता है, वह कवि 'नामाख्यातकवि' नाम से प्रसिद्धि पाता है। अर्थकवि काव्यगत अर्थ को अर्थात् विचार, कल्पना या आशय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानता है। अलंकारकवि अलंकार को ही काव्यसर्वस्व मानता है। उक्तिकवि के काव्य में सौन्दर्यपूर्ण वक्रोक्ति की प्रधानता होती है। रसकवि के वचनों में भाव-भावनाओं के परिपोष को ही सबसे अधिक महत्त्व होता है, तो मार्गकवि वैदर्भी, गौड़ी, लाटी आदि रीतियों की ओर अधिक ध्यान देता है। शास्त्रार्थकवि के काव्य में योग, मीमांसा आदि शास्त्रीय विषयों की प्रधानता रहती है। उक्त वर्गीकरण पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रतीत होता है कि, यद्यपि राजशेखर ने शब्द, अर्थ, अलंकार, उक्तिवैचित्र्य, रस, मार्ग और शास्त्रार्थ आदि समस्त काव्यांगों को दृष्टि-सम्मुख रखकर उपर्युक्त विभिन्न वर्गों का निर्धारण किया है, किन्तु रचनाकवि उक्तिकवि से सर्वथा पृथक् न होने से दोनों का एकही प्रकार बना लेना योग्य है। अर्थात्, काव्यकवि के केवल सात ही उपभेद हो जाते हैं। राजशेखर ने इन सब भेदोपभेदों को स्पष्ट करने हेतु अनेक उदाहरण-पद्य उद्धृत किये हैं।[२३]

यहाँ और एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या इन प्रकारोपप्रकारों में कोई तरतमभाव है ? स्वयं राजशेखर ने इस विषय को विशद करते हुए कहा है कि, जिस किसी कवि में रचना, शब्द, उक्ति, मार्ग आदि गुणों में से दो-तीन ही गुण पाये जाएँ उसे कनिष्ठ कोटि का कवि समझना चाहिए। जिस कवि में पाँच गुण पाये जाएँ उसे मध्यम कोटि का मानना चाहिए और जिसमें सभी गुण पाये जाएँ उसे महाकवि संबोधित करना चाहिए।[२४] राजशेखर की इस विचारधारा से ऐसा प्रतीत होता है कि, रचना, शब्द, अर्थ, उक्तिवैचित्र्य आदि विविध अंग उत्कृष्ट या महान् काव्य के निर्माण में अपना-अपना विशेष योगदान देते हैं। इनमें से कुछ अंगों के रहने पर काव्य त्रुटित, खण्डित या अविकसित रह जाता है, आधों के रहने पर काव्य आधी मात्रा में पुष्ट होकर भी आधी मात्रा में अपुष्ट ही रह जाता है। किन्तु, जब सभी अंग काव्य में होते हैं तब काव्य, मानो किसी पूर्ण विकसित कमल के समान, सम्पूर्णतया परिपुष्ट या विकसित हो जाता है। ऐसा काव्य ही महाकाव्य कहा जा सकता है। इस विवेचन के प्रवाह में राजशेखर ने कवियों के कनिष्ठ, मध्यम एवं महान् ऐसे तीन अन्य प्रकारों का प्रतिपादन किया है। इनमें से महाकवि को गौरवान्वित करते हुए राजशेखर कहता है कि, महाकवि के निद्राधीन होने पर भी साक्षात् सरस्वती देवी उसे काव्यानुकूल शब्दार्थों का

दर्शन कराती है। इसके विपरीत जिस व्यक्ति में कवित्वशक्ति का अभाव रहता है, उसे शब्दार्थों के दर्शन होने पर भी उनका ज्ञान नहीं होता। जिन विचारों या कल्पनाओं का प्रस्फुरण अन्य लोगों को होता है उनकी उपेक्षा महाकवि करता है और स्वयं को प्रस्फुरित विचार-कल्पनाओं को सहर्ष अंगीकृत करता है। चर्मचक्षुओं से युक्त महाकवि को जो प्रतीत होता है वह साक्षात् त्रिनेत्र शिवजी को या सहस्रनेत्र भगवान् इन्द्र को भी प्रतीत नहीं होता। महाकवि के बुद्धिरूप दर्पण में समस्त विश्व प्रतिबिंबित होता है। शब्द और अर्थ महाकवि के सम्मुख सहायतार्थ आने के लिए सदैव उद्यत रहते हैं। जो सर्वोच्च अनुभूति योगिजनों को समाधि द्वारा होती है वह महाकवि को वाणी के द्वारा होती है।[२५]

राजशेखर के द्वारा की गयी शास्त्रकवि की चर्चा को समाप्त करने से पहले यह कहना नितान्त आवश्यक है कि, राजशेखर द्वारा प्रतिपादित कविप्रकारों के विषय में मतभेद अवश्य हो सकते हैं, किन्तु उनके प्रतिपादन में उसकी सूक्ष्म एवं विश्लेषक बुद्धि का सुन्दर दर्शन होता है, इस तथ्य के विषय में कोई मतभेद नहीं है। अब राजशेखर के द्वारा निरूपित अवस्थानिष्ठ वर्गीकरण का परिचय प्राप्त करेंगे।

अवस्थानिष्ठ वर्गीकरण

राजशेखर के मतानुसार कवि की दस अवस्थाएँ होती हैं और उनके अनुसार कवि के और दस प्रकार सम्भव हैं। उन अवस्थाओं में से सात अवस्थाएँ बुद्धिमान् एवं आहार्यबुद्धि कवियों की होकर तीन अवस्थाएँ औपदेशिक कवियों की होती हैं। वे अवस्थाएँ हैं—**"दश च कवेरवस्था भवन्ति। तत्र च बुद्धिमदाहार्यबुद्ध्योः सप्त, तिस्रश्च औपदेशिकस्य। तथा—काव्यविद्यास्नातको, हृदयकविः, अन्यापदेशी, सेविता, घटमानः, महाकविः, कविराजः, आवेशिकः, अविच्छेदी, संक्रामयिता च॥"**[२६] राजशेखर ने इन अवस्थाओं का जो स्पष्टीकरण दिया है उसके अनुसार जो काव्यनिर्माणेच्छु काव्यविद्याओं तथा तदानुषंगिक अन्यान्य विद्याओं के अध्ययन हेतु गुरुगृह में जाकर रहता है वह है 'काव्यविद्यास्नातक'।[२७] जो मन ही में काव्य गुनगुनाता है और उसे मन ही में छिपाकर रखता है उसे हृदयकवि कहते हैं।[२८] जिसके मन में स्वरचित काव्य के गुणों का विश्वास नहीं होता तथा रसिकों द्वारा दोष दिखलाए जाने का डर होता है, ऐसा कवि स्वनिर्मित काव्य को परनिर्मित बताकर रसिकों के समक्ष पढ़ता या गाता है। ऐसे कवि को अन्यापदेशी कवि कहते हैं।[२९] जो प्राचीन कवियों की किसी भावच्छटाको लेकर उसी के आधार पर अपनी कविता बनाने का प्रयास करता है वह सेविता कहलाता है।[३०] जो निर्दोष पर त्रुटित काव्यों का निर्माण करता है, किन्तु दीर्घ काव्यों का निर्माण नहीं करता, वह है घटमान कवि।[३१] जो गद्य या पद्य में अथवा स्फुट या दीर्घ रचना करने में समान रूप से प्रवीण होता है, वह महाकवि है।[३२] जो

सब भाषाओं तथा सब प्रबन्धों में एवं सब रसों में रचना करने में स्वतन्त्र एवं पूर्ण समर्थ हो, वह कविराज कहलाता है।[३३] ऐसे कविराज दुनिया में इनेगिने ही होते हैं।[३४] मन्त्र, तन्त्र, गुरु के प्रसाद, एवं ऋषि और देवता के वरदान से जिसने सिद्धि प्राप्त कर ली है, किन्तु आवेशावस्था में जो कविता करता है वह आवेशिक कवि है।[३५] जो जब चाहे तब काव्य का निर्माण कर सकता है उसे अविच्छेदी कहते हैं।[३६] कन्या-कुमारी एवं कामाख्या वगैरह सिद्धपीठों में मन्त्रसिद्धि करके जो सरस्वती को अपने में सङ्क्रान्त करता है वह संक्रामयिता है।[३७]

प्राक्-प्रतिपादित वर्गीकरण पर विचार करने पर प्रथमतः यह प्रतीत होता है कि, इस वर्गीकरण के नियामक तत्त्व विभिन्न एवं विजातीय हैं, जैसे विद्याध्ययन, काव्यनिर्माण की रीति, काव्यनिर्माण की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि, काव्य का विस्तार या काव्य का माध्यम, काव्यगत भाव, मंत्रतंत्रादि सिद्धि, काव्यनिर्माण का समय, आदि। जो दूसरी बात ध्यान में आती है वह यह है कि, अविच्छेदी प्रकार के कवि का अन्तर्भाव औपदैशिक कोटि में करने का कोई प्रयोजन प्रतीत नहीं होता है। क्योंकि उस कोटि के कवि के काव्यनिर्माण का मंत्रतंत्रादि उपदेश से कोई सम्बन्ध नहीं होता। आवेशिक एवं संक्रामयिता कवियों का काव्य, मंत्रादि उपदेश से सिद्ध होता है, इसलिए उन दोनों का एक ही वर्ग मानना समीचीन है। हृदयकवि की कविता उसके हृदयमात्र में ही रहती है, इसलिए रसिकगण उसका आस्वादन नहीं कर पाते। जब तक किसी कवि की कविता रसिकों के सामने प्रकट नहीं होती, तब तक उस कवि की कवित्वशक्ति का परिचय नहीं मिलता है। इसीलिए हृदयकवि की कल्पना व्यर्थ-सी मालूम होता है। राजशेखर की महाकवि-विषयक कल्पना बड़ी संकुचित प्रतीत होती है। क्योंकि गद्य या पद्य में रचना करने में कुशल बहुत हो सकते हैं। राजशेखर ने महाकवि का लक्षण घटमान कवि के लक्षण के पश्चात् लिखा है। इन दोनों लक्षणों की तुलना करने से ऐसा लगता है कि, राजशेखर का अभिप्राय प्रायः यह होगा कि, जो कवि स्फुट एवं दीर्घ रचना समान कुशलता के साथ कर सकता है वह महाकवि है। किन्तु यह संभवनीय अभिप्राय भी महाकवि के यथार्थ लक्षण का गमक नहीं माना जा सकता, क्योंकि इस विषय में परम्परागत विचार यह है कि, जो कवि महान्, पुण्यश्लोक एवं आदर्श चरित व्यक्तियों के जीवन पर महान् काव्य का निर्माण करता है, उसे महाकवि कहते हैं।[३८] राजशेखर का एतद्विषयक विचार उस पारंपरिक विचार से नहीं मिलता है, और चिन्तन करने पर जँचता भी नहीं है। अविच्छेदी प्रकार का समावेश भी 'कविराज' कोटि में अपने आप हो जाता है। इन सब आक्षेपों को ध्यान में रखते हुए यह निष्कर्ष निकलता है कि, अवस्थानिष्ठ वर्गी-करण के आधार पर कवियों के वस्तुतः काव्यविद्यास्नातक, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, कविराज, और सिद्धमन्त्र इतने ही प्रकार मान्य होने चाहिए।

शब्दार्थहरणनिष्ठ वर्गीकरण

अब शब्दार्थहरण रूप निकष के आधार पर राजशेखर द्वारा किये गये वर्गीकरण का परिचयपूर्वक परामर्श करेंगे। उसने अपने ग्रन्थ के ग्यारहवें अध्याय में शब्दार्थहरण तथा तदुत्पन्न काव्यों का तात्त्विक विवेचन किया है, जिसके उपसंहार में और एक वर्गीकरण-धारा प्रस्तुत की है। इस सन्दर्भ में वह कहता है—

"नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः।
स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम्॥
उत्पादकः कविः कश्चित्कश्चिच्च परिवर्तकः।
आच्छादकस्तथा चान्यस्तथा संवर्गकोऽपरः॥
शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
उल्लिखेत्किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः" ॥[३९]

अर्थात्—'जो शब्द, अर्थ, विचार, कल्पना, आदि की चोरी न करता हो ऐसा कवि पाया ही नहीं जायगा। कभी कोई व्यापारी पूर्णतया ईमानदार होता है ? किन्तु, जिसकी चोरी छिपी हुई रह सकती है और जिसकी निन्दा नहीं होती वह मजे में रहता है। कतिपय कवि उत्पादक होते हैं, जो अपनी प्रतिभाशक्ति से काव्य का निर्माण करते हैं। कुछ कवि, जो परिवर्तक कहलाते हैं, अन्य कवियों के अर्थों या कल्पनाओं को स्वीकार कर उनका अपने शब्दों में वर्णन करते हैं और कुछ कवि अन्यों की कल्पनाओं को अपनी ही बताते हैं। ऐसे कवि आच्छादक कहलाते हैं। इनके अलावा और कतिपय कवि अन्य अनेक कवियों की कृतियों में से छोटे-छोटे अंशों को एकत्रित कर अपने काव्य को सिद्ध करते हैं, ऐसे कवियों को संवर्गक कहते हैं। जिस कवि को पूर्वाचार्यों के शब्दार्थों में अभिनव अर्थकी प्रतित होती है और जो खास स्वतंत्र अर्थ का वर्णन कर सकता है वह 'महाकवि' कहलाता है।'

ऊपर जिन कविप्रकारों का वर्णन किया गया है, उनमें से उत्पादक तथा महाकवि स्वतंत्र बुद्धि के हैं। शेष तीन प्रकार के कवि अर्थात् परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक 'चोर' कोटि के कवि हैं। यहाँ यह स्पष्ट होता है कि, रचना की स्वतंत्रता और रचना की परतंत्रता इन दो तत्त्वों को आधाररूप माना गया है। परिवर्तकादि प्रकारत्रयी की कल्पना में राजशेखर की सूक्ष्म बुद्धि का अच्छा परिचय मिलता है। यहाँ वर्णित महाकवि अवस्था-निष्ठ वर्गीकरण के अन्तर्गत वर्णित महाकवि से बहुत भिन्न है, इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है।

राजशेखर ने 'शब्दार्थहरण'—कसौटी ही के आधार पर और एक वर्गीकरण निम्नलिखित शब्दों में प्रस्तुत किया है—

"अमीषां चार्थानामन्वर्था अयस्कान्तवच्चत्वारः कवयः पञ्चमश्चा-दृष्टचरार्थदर्शी ।" तदाहुः—

भ्रामकश्चुम्बकः किञ्च कर्षको द्रावकश्च यः ।
स कविर्लौकिकोऽन्यस्तु चिन्तामणिरलौकिकः ॥"[४०]

अर्थात्—'प्रतिबिम्बकल्प आदि चार अर्थों के अनुसार, चुम्बक के समान, कवियों के भी चार प्रकार हैं और सर्वथा अभूतपूर्व अर्थ की योजना करनेवाला कवि पंचम प्रकार का कवि है। इन पाँच प्रकार के कवियों का दो स्थूल वर्गों में विभाजन हो सकता है, जैसे—लौकिक तथा अलौकिक। भ्रामक, चुम्बक, कर्षक और द्रावक कवि लौकिक कवि हैं, तो चिन्तामणि अलौकिक। अब इनके लक्षणों को समझना चाहिए। जो कवि किसी प्राचीन विषय की अपूर्वता अपने ही द्वारा ज्ञात हुई है ऐसा आभास उत्पन्न कर उस अपूर्वता का वर्णन काव्य में करता है और रसिकों के मन में भ्रम उत्पन्न करता है, उसे भ्रामक कवि कहते हैं।[४१] अर्थात् भ्रामक कवि द्वारा वर्णित विषय प्राचीन होकर मूलतः अपूर्व होता है। किन्तु उसके प्रसिद्ध न होने से पाठकों को वह अज्ञात-सा होता है। उसकी जानकारी या प्रतीति की भ्रामक की धारणा आभासिक मात्र होती है।

'चुम्बक' कवि 'भ्रामक' से कुछ भिन्न होता। किसी दूसरे कवि द्वारा की गयी अभिनव कल्पना को अपने मनोहर शब्दों में सजाकर वह अपनी रचना में उसे अन्तर्भूत करता है। इस प्रकार वह दूसरे की कल्पना को, बड़ी चतुरता के साथ, हरण करता है।[४२] एतावता 'चुम्बक' भी चोर ही है।

जो कवि पररचित काव्यार्थ की, चमत्कृतिपूर्ण ढंग से, स्वरचित काव्य में योजना कर देता है वह 'कर्षक' कवि कहलाता है।[४३] चुम्बक कवि के द्वारा अपहृत अर्थ भी कुछ मात्रा में अभिनव होता है और उसका अपहरणोत्तर परिवर्तन भी अभिराम हौता है। किन्तु, कर्षक कवि द्वारा किया हुआ अपहृत अर्थ का केवल वर्णन ही मनोहर होता है, यह दोनों की कृतियों में अन्तर है।

जो कवि किसी दूसरे कवि के आशय को पिघलाकर अपनी रचना में उसको नवीन रूप प्रदान करता है और उसका वह पिघलाने का कार्य इतना कौशलपूर्ण होता है कि, उसमें मूल आशय की अभिव्यक्ति भी नहीं हो पाती। ऐसा अपूर्व कार्य करनेवाला कवि 'द्रावक' नाम से पहचाना जाता है।[४४] इसका कार्य भ्रामक, चुम्बक एवं कर्षक कवियों से कई गुना श्रेष्ठ होता है। पहले कहा ही जा चुका है कि, भ्रामकादि चार प्रकार के कवि लौकिक हैं। अलौकिक कवि का लक्षण इस प्रकार हैं—

"चिन्तासमं यस्य रसैकसूतिरुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः ।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥"[४५]

अर्थात्—'जिस कवि द्वारा चिन्तन की शुरुआत होते ही केवल रसों की जागृति होती है, अनेकविध रमणीय कल्पनाएँ तथा विचार उद्‌बुद्ध होते हैं, और प्राचीन निपुण कवियों को भी अप्रत्यक्ष अर्थ उसे विशदतया प्रत्यक्ष हो जाता है, ऐसे कवि को चिन्तामणि कवि कहते हैं और वह अद्वितीय होता है।' ऐसे कवि की समस्त कल्पनाएँ सम्पूर्ण, विचार एवं सकल विषय सर्वथा अभिराम एवं अभिनव होते हैं, उन्हें अन्यत्र आधार नहीं होता और इसी लिए राजशेखर ने 'चिन्तामणि' के विचारकल्पनादिकों को 'अयोनि'[४६] बताया है।

यहाँ यह कहना आवश्यक प्रतीत होता है कि, उक्त वर्गीकरण में वर्णित भ्रामक, चुम्बक, कर्षक एवं द्रावक कवि भी पूर्ववर्णित परिवर्तक, आच्छादक एवं संवर्गक कवियों की भाँति 'चोर' ही होते हैं, लेकिन इन दो कोटियों के चोरों में भी थोड़ा अन्तर है। परिवर्तकप्रभृति 'चोर' कवि निम्न कोटि के हैं। उनमें चौर्यकर्मकुशलता अवश्य होती है, किन्तु उसकी श्रेणी 'द्वितीय' होती हैं। इसके विपरीत भ्रामकादि कवियों की चौर्यकर्म-कुशलता की श्रेणी 'प्रथम' होने से वे 'उच्च कोटि के चोर' हैं! तथा पूर्वोक्त महाकवि एवं कविराज से यहाँ का 'चिन्तामणि' भिन्न एवं श्रेष्ठ है। स्वयं राजशेखर ने ही कहा है कि, संसार में कविराज बहुत ही थोड़े पाये जाते हैं, अर्थात् वे 'स-द्वितीय' होते हैं, किन्तु 'चिन्तामणि' अद्वितीय होता है।

राजशेखर की काव्यमीमांसा के आधार पर अब हम कवियों के विविध प्रकारों से परिचित हुए। इन प्रकारों के वर्णन से राजशेखर की बुद्धिमत्ता एवं परिपुष्ट कल्पकता का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। राजशेखर द्वारा किये गये विविध एवं विभिन्न वर्गीकरणों को हम तालिकारूप में प्रस्तुत कर सकते हैं—(तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये।)

राजशेखरकृत एतद्विषयक विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं—

१. कवियों का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों में से वर्गीकरण करना मध्ययुगीय काव्य-मीमांसकों का एक प्रमुख चिन्तनविषय था।

२. उन्होंने इस विषय में प्रचुर विचार किया था और अपने दृढ़ मन्तव्यों का अपने-अपने ग्रन्थों में प्रतिपादन किया था।

३. उन सब विशृङ्खलित अभिमतों को एकत्रित कर राजशेखर ने अपनी 'काव्यमीमांसा' में संकलित किया। राजशेखर द्वारा किये गये इस महत्त्वपूर्ण संकलन-कार्य के अभाव में वे अभिमत हमें आज उपलब्ध न हो पाते। इसी लिए सांस्कृतिक विचारों की निधि की रक्षा की दृष्टि से राजशेखर का यह कार्य महत्त्वपूर्ण है।

४. राजशेखर अन्य ग्रंथकारों का अनुयायी मात्र नहीं है। वह स्वतंत्र चिन्तक

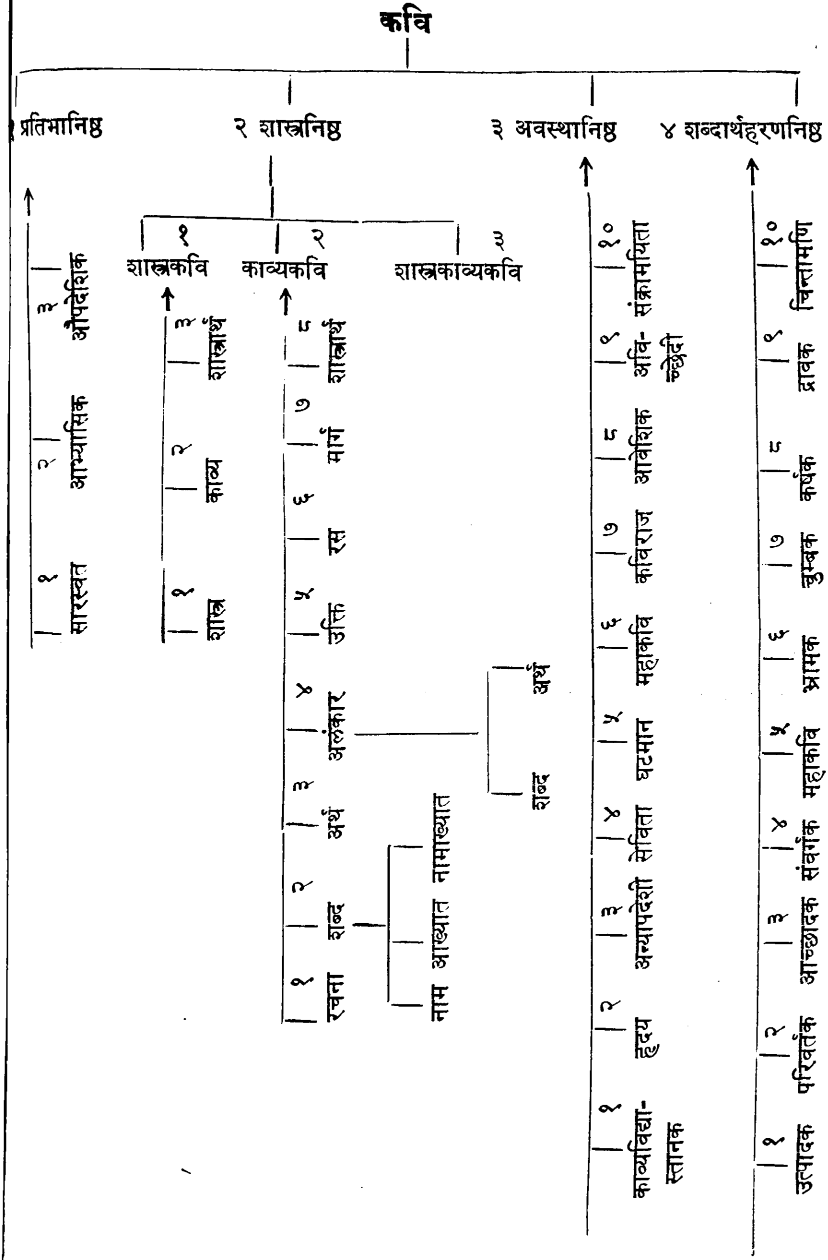
कवि
१ प्रतिभानिष्ठ
२ शास्त्रनिष्ठ
३ अवस्थानिष्ठ
४ शब्दार्थहरणनिष्ठ
१ सारस्वत
२ आभ्यासिक
३ औपदेशिक
१ शास्त्रकवि
२ काव्यकवि
३ शास्त्रकाव्यकवि
१ शास्त्र
२ काव्य
३ शास्त्रार्थ
१ रचना
२ शब्द
३ अर्थ
४ अलंकार
५ उक्ति
६ रस
७ मार्ग
८ शास्त्रार्थ
नाम
आख्यात
नामाख्यात
शब्द
अर्थ
१ काव्यविद्या-स्तानक
२ हृदय
३ अन्यापदेशी
४ सेविता
५ घटमान
६ महाकवि
७ कविराज
८ आवेशिक
९ अवि-च्छेदी
१० संक्रामयिता
१ उत्पादक
२ परिवर्तक
३ आच्छादक
४ संवर्गक
५ महाकवि
६ भ्रामक
७ चुम्बक
८ कर्षक
९ द्रावक
१० चिन्तामणि

है। इसी लिए वह अपने विचारों का स्पष्टतया, नम्रतया किन्तु दृढ़तया प्रतिपादन करता है और दूसरों के विचारों का निर्भीकतया खण्डन भी करता है।

५. राजशेखर के विचार सन्तुलित एवं सामंजस्यपूर्ण होने से सम्मान्य हैं।

६. उपरिमुद्रित तालिका में सम्मिलित किये गये बहुशाखीय वर्गीकरण से राजशेखर की सूक्ष्म चिन्तनशीलता एवं व्यापक कल्पकता का परिचय मिलता है। इतना विस्तृत एवं विविधांगपूर्ण वर्गीकरण राजशेखर-पूर्वकालीन ग्रन्थकारों के ग्रन्थों में नहीं मिलता है।

७. राजशेखरकृत यह सम्पूर्ण चर्चा सोदाहरण एवं उद्‌बोधक है, जिससे वह एक ओर बुद्धि को वैचारिक खाद्य खिलाती है और दूसरी ओर मन का रंजन भी करती है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. कविराजराजशेखरविरचिता काव्यमीमांसा (अतः पर काव्यमी संक्षेप से निर्दिष्ट), संपा० पं० मधुसूदन मिश्र, हरिदास-संस्कृत-ग्रन्थमाला बनारस, १९३४, पृ० ६०

२. 'कवेरुपकुर्वाणा कारयित्री। साऽपि त्रिविधा सहजाऽऽहार्यौपदेशिकी च ।।'—तत्रैव

३ 'जन्मान्तरसंस्कारापेक्षिणी सहजा।··· ऐहिकेन कियतापि संस्कारेण प्रथमां तां सहजेति व्यपदिशन्ति।'-तत्रैव, पृ० ६०-६१

४. 'इह जन्मसंस्कारयोनिराहार्या।—महता पुनराहार्या।।' तत्रैव, पृ० ६१

५. 'मन्त्रतन्त्राद्युपदेशप्रभवा औपदेशिकी।'—तत्रैव.

६. 'त इमे त्रयोऽपि कवयः सारस्वतः आभ्यासिकः औपदेशिकश्च। जन्मान्तरसंस्कार-प्रवृत्तसरस्वतीको बुद्धिमान् सारस्वतः। इह जन्माभ्यासोद्‌भासितभारतीक आहार्य-बुद्धिराभ्यासिकः। उपदेशितदर्शितवाग्विभवा दुर्बुद्धिरौपदेशिकः।' —तत्रैव पृ० ६१-६२.

७. 'तस्मान्नेतरौ तन्त्रशेषमनुतिष्ठताम्।' न हि प्रकृतिमधुरा द्राक्षा फाणितसंस्कारमपेक्षते' इत्याचार्याः। —तत्रैव पृ० ६२.　८. 'न' इति यायावरीयः। —तत्रैव.

९ 'एकार्थं हि क्रियाद्वयं द्वैगुण्याय सम्पद्यते।'—तत्रैव, १०. तत्रैव, पृ० ६२-६३

११. " 'उत्कर्षः श्रेयान्' इति यायावरीयः। स चानेकगुणसन्निपाते भवति।" —तत्रैव, पृ० ६३,　१२. 'बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।

कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम् ।
काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ॥
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता'—तत्रैव ।

१३. 'एकस्य तिष्ठति कवेर्गृह एव काव्य —
मन्यस्य गच्छति सुहृद्भवनानि यावत् ।
न्यस्याविदग्धवदनेषु पदानि शश्वत्
कस्याऽपि सञ्चरति विश्वकुतूहलीव ॥'—तत्रैव, पृ० ६४

१४. " 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' इत्यानन्दः । 'व्युत्पत्तिः श्रेयसी' इति मङ्गलः ।" तत्रैव, पृ० ७५ एवं ७७ ।

१५. 'प्रतिभाव्युत्पत्ती मिथः समवेते श्रेयस्यौ ।'—तत्रैव पृ० ७८

१६. 'प्रतिभाव्युत्पत्तिमांश्च कविः कविरित्युच्यते ॥'—तत्रैव, पृ० ८० १७. तत्रैव,

१८. "तेषामुत्तरोत्तरीयो गरीयान्' इति श्यामदेवः ।"—तत्रैव १९. तत्रैव पृ० ८०-८२

२०. 'तत्र त्रिधा शास्त्रकविः । यः शास्त्रं विधत्ते, यश्च शास्त्रे काव्यं संविधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं निधत्ते । काव्यकविः पुनरष्टधा । तद्यथा—रचनाकविः, शब्दकविः, अर्थकविः, अलङ्कारकविः, उक्तिकविः, मार्गकविः, शास्त्रार्थकविरिति ।'-तत्रैव, पृ० ८२

२१. 'त्रिधा च शब्दकविर्नामाख्यातोभयभेदेन ।'—तत्रैव, पृ० ८३

२२. 'द्विधाऽलङ्कारकविः शब्दार्थभेदेन ।'—तत्रैव पृ० ८५

२३. द्रष्टव्य, तत्रैव, पृ० ८२-९०

२४. 'एषां द्वित्रैर्गुणैः कनीयान्, पञ्चवैर्मध्यमः, सर्वगुणयोगी महाकविः ।'—तत्रैव, पृ० ९०

२५. 'सुप्तस्यापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जाग्रतोऽप्यन्धं चक्षुः । अन्यदृष्टचरे ह्यर्थे महाकवयो जात्यन्धास्तद्विपरीते तु दिव्यदृशः । न तत् त्र्यक्षः सहस्राक्षो वा यच्चर्मचक्षुषोऽपि कवयः पश्यन्ति । मतिदर्पणे कवीनां विश्वं प्रतिफलति । कथं नु वयं दृश्यामह इति महात्मनामहम्पूर्विकयैव शब्दार्थाः पुरो धावन्ति । यत्सिद्धप्रणिधाना योगिनः पश्यन्ति, तत्र वाचा विचरन्ति कवयः इत्यनन्ता महाकविषु सूक्तयः (इति) ।"—तत्रैव, पृ० १९७ २६. तत्रैव, पृ० ९०-९१

२७. "यः कवित्वकामः काव्यविद्योपविद्याग्रहणाय गुरुकुलान्युपास्ते स विद्यास्नातकः ॥" —तत्रैव, पृ० ९१

२८. "यो हृदय एवं कवते निह्नुते च स हृदयकविः ॥"—तत्रैव

२९. "यः स्वमपि काव्यं दोषभयादन्यस्येत्यपदिश्य पठति सोऽन्यापदेशी ।"—तत्रैव

३०. "यः प्रवृत्तवचनः पौरस्त्यानामन्यतमच्छायामभ्यस्यति स सेविता ॥"—तत्रैव

३१. "योऽनवद्यं कवते न तु प्रबन्धाति स घटमानः ॥"—तत्रैव

३२. "योऽन्यतरप्रबन्धे प्रवीणः स महाकविः ॥"—तत्रैव, ९१-९२

३३. "यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः" तत्रैव पृ० ९२

३४. "ते यदि जगत्यपि कतिपये ॥"—तत्रैव

३५. "यो मन्त्राद्युपदेशवशाल्लब्धसिद्धिरावेशसमकालं कवते स आवेशिकः ॥"—तत्रैव

३६ "यो यदैवेच्छति तदैवाविच्छिन्नवचनः सोऽविच्छेदी ।—तत्रैव

३७. "यः कन्याकुमारादिषु सिद्धमन्त्रः सरस्वतीं सङ्क्रामयति स सङ्क्रामयिता ॥"—तत्रैव

३८. द्रष्टव्य—"सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् ॥"—आचार्य भामह-विरचित **काव्यालङ्कार**, भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२, पृ० ११

३९. काव्यमी पृ० १९४-१९५ ४०. तत्रैव, पृ० २०१

४१. "तन्वानोऽनन्यदृष्टत्वं पुराणस्यापि वस्तुनः ।
योऽप्रसिध्यादिभिर्भ्राम्यत्यसौ स्याद् भ्रामकः कविः ॥"—तत्रैव, पृ० २०२

४२. "यश्चुम्बति परस्यार्थं वाक्येन स्वेन हारिणा ।
स्तोकार्पितनवच्छायं चुम्बकः स कविर्मतः ॥"—तत्रैव

४३. "परवाक्यार्थमाकृष्य यः स्ववाचि निवेशयेत् ।
समुल्लेखेन केनापि सः स्मृतः कर्षकः कविः ॥—तत्रैव

४४. "अप्रत्यभिज्ञेयतया स्ववाक्ये नवतां नयेत् ।
यो द्रावयित्वा मूलार्थं द्रावकः स भवेत्कविः ॥"—तत्रैव

४५ तत्रैव

४६. "तस्य चायोनिरर्थः ।"—तत्रैव

क्या 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम था ?

यह बात अनुसन्धाताओं को अविदित नहीं है कि, अधिकांश प्राचीन संस्कृत कवियों की जीवनी के विषय में सप्रमाण, निश्चित एवं भ्रान्तिरहित ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। वे कवि कब और कहाँ प्रसूत हुए, उनके वास्तविक नाम क्या थे, उनके माता-पिता के नाम क्या थे, उनके पूर्वजों के व्यवसाय क्या थे, उनकी शिक्षा किन गुरुओं के चरणों में सम्पन्न हुई, उनका पारिवारिक जीवन कैसा था, उनके मित्र कौन थे आदि अनेक बातों के विषय में प्राय: अज्ञान ही प्रतीत होता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी जब डॉ० दे और डॉ० कृष्णम्माचारियर के समान दो आधुनिक पण्डित क्षेमेन्द्र का उपनाम 'व्यासदास' बतलाते हैं तब विमर्शक के मन में कुतूहल पैदा होकर उक्त दो पण्डितों की धारणा की समीक्षा करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसी इच्छा से प्रेरित होकर प्रस्तुत लेख का प्रणयन हुआ है।

सर्वप्रथम डॉ० देने क्षेमेन्द्र का उपनाम 'व्यासदास' था, ऐसा कहाँ-कहाँ बतलाया है, इसका निरीक्षण करेंगे। इस दृष्टि से डॉ० दे के निम्नोद्धृत वचन पठनीय हैं—

(अ) "This hard-working polymath, surnamed Vyāsadāsa, was the son of Prakāśendra and grandson of Sindhu"[1]

(आ) " .....polygrapher Kṣemendra, with the surname Vyāsadāsa, is notable in Sanskrit Poetics......"[2]

(इ) "It is worth noting, however, that while Kṣemendra's surname Vyāsadāsa is given in all his works ..... "[3]

जैसा डॉ० दे मानते हैं कि, 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम था, वैसा डॉ० कृष्णम्माचारियर भी मानते हैं। वे कहते हैं—

"Kṣemendra, surnamed Vyāsadāsa, was the son of Prakāś-endra, and grandson of Sindhu."[4]

उक्त चारों अवतरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि, 'व्यासदास' क्षेमेन्द्रका वंशनाम था इस विषय में डॉ० दे एवं डॉ० कृष्णम्माचारियर को किंचित् भी सन्देह नहीं है। इन दोनों के इस दृढ़ अभिमत की समीक्षा करने से पहले उन्होंने surname शब्द का प्रयोग अपने-अपने ग्रन्थों में उपर्युद्धृत स्थानों के अतिरिक्त और कहीं किया है अथवा नहीं और यदि किया हो तो किस अर्थ में किया है, यह देखना आवश्यक है। कारण

विना उसके उनकी दृष्टि से surname शब्द का क्या अर्थ है इसका निश्चय नहीं हो सकेगा।

इस दृष्टि से संदर्भों का अन्वेषण करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि, डॉ० कृष्णम्माचारियर ने अपने ग्रन्थ में और किसी ग्रन्थकार के 'उपनाम' का निर्देश नहीं किया है। किन्तु, डॉ० दे के द्वारा अन्य अनेकों लेखकों के उपनाम निर्दिष्ट हैं। उदाहरण के लिए, उनका यह कथन है कि, रुद्रट के 'काव्यालङ्कार' के टीकाकार वल्लभ का उपनाम 'परमार्थचिह्न' था।[५] उनकी दृष्टि से 'चन्द्रालोक' के कर्ता जयदेव का उपनाम 'पीयूषवर्ष' था।[६] उनका यह दृढ़ विश्वास है कि, 'पारिजातमञ्जरी' नामक नाटिका का कर्ता मदन 'Bāla-Sarasvatī of Gauḍa' (गौड़ीय बालसरस्वती) उपनाम से अलङ्कृत था।[७] डॉ० दे के प्रतिपादन के अनुसार 'कौतुकरत्नाकर' नामक प्रहसन का कर्ता 'कवितार्किक' उपनाम को धारण करने वाला था।[८] डॉ० दे के द्वारा उल्लिखित ये सभी उपनाम 'उपाधि' के समान प्रतीत होते हैं। परन्तु, उपरिनिर्दिष्ट स्थानों पर सर्वत्र डॉ० दे ने surname शब्द का ही प्रयोग किया है, title शब्द का प्रयोग नहीं किया है, यह बात विचारणीय है। अर्थात्, डॉ० दे की दृष्टि से surname शब्द उपनाम, उपाख्या आदि शब्दों का समानार्थक है, यह बात सिद्ध होती है।

डॉ० दे के समान विद्वान् को 'व्यासदास' शब्द का प्रयोग क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में ही प्राप्त हुआ था।[९] इस लिए हमारा यह कर्तव्य है कि, प्रथम हम उन सब निर्देशों को एकत्रित कर उनके स्वरूप का विवेचन करें। उन निर्देशों का संकलन इस प्रकार हो सकता है :—

(क) 'श्रीव्यासदासः' क्षेमेन्द्रः कुरुते सरसां स्तुतिम् ॥ १३ ॥'[१०]

(ख) 'समाप्तमिदं भारतमञ्जरीस्थं व्यासाष्टकस्तोत्रं कवेर्व्यासदासापरनाम्नः प्रकाशेन्द्रसूनोः क्षेमेन्द्रस्य ॥'[११]

(ग) 'तस्यात्मजः सर्वमनीषिशिष्यः श्रीव्यासदासापरपुण्यनामा ॥'[१२]

(घ) 'इति श्रीप्रकाशेन्द्रात्मजव्यासदासापरनामश्रीक्षेमेन्द्रविरचिते····॥'[१३]

(ङ) 'इति श्रीप्रकाशेन्द्रात्मजव्यासदासापराख्यश्रीक्षेमेन्द्रकृता औचित्यविचारचर्चा समाप्ता ॥''[१४]

(च) उक्त उद्धरण में प्राप्त 'अपराख्य' शब्द के समान निर्देश 'क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रहः' (उस्मानिया विश्वविद्यालय संस्कृतपरिषद् द्वारा प्रकाशित, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, १९६१) ग्रन्थ के निम्नलिखित पृष्ठों पर भी पाये जाते हैं—६६, ७०, ७४, ७७, ८४, १४४, १५३, १६४, १७९, १८७, १९२, १९७, २०६, २१५, २२८,

२३६, २४३, २४७, २५१, २५४, २५७, २६०, २६७, २७१, २७५, २७९, २८३, २८७, २९०, २९४, २९७, ३०६, ३२१, ३३५, ३४६, ३५५, ३६६, ३७१, ३८५, ३९४, ३९८, ४०३, ४१५, ४१६, ४१९, एवं ४२१ ।

(छ) 'श्रव्या श्रीव्यासदासेन समासेन सतां मता ।'[१५]

(ज) 'इति श्रीव्यासरूपक्षेमेन्द्रविरचितायां महाभारतमंजर्यां सभापर्व द्वितीयम् ॥[१६]

'व्यासदास' सम्बद्ध उक्त सभी निर्देशों का पृथक्करण करने पर उसके चार वर्ग (प्रकार) प्रतीत होते हैं—(१) व्यासदास, (२) व्यासदास 'अपरनाम', (३) व्यासदास 'अपराख्या' एवं (४) 'व्यासरूप' क्षेमेन्द्र ।

इस विवेचन तथा विश्लेषण से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

(अ) स्वयं क्षेमेन्द्र ने 'व्यासदास' पद (शब्द) का निर्देश अनेक बार किया है । उसके आधार पर ही 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम था ऐसा दे एवं कृष्णम्माचारियर का निश्चय हुआ होगा ।

(ब) क्षेमेन्द्र ने स्वयं 'व्यासदास' शब्द का प्रयोग अपरनाम' और 'अपराख्या' के रूप में अनेक बार किया है ।

(क) उसने व्यास महर्षि से अपनी एकरूपता को भी प्रकट शब्दों में व्यक्त किया है ।

(ड) किन्तु, उसने कहीं भी 'व्यासदास' को अपना उपनाम नहीं बतलाया है ।

अभी तक के विवेचन से दे एवं कृष्णम्माचारियर के प्रतिपादन की निराधारता सिद्ध हो जाती है । परन्तु क्षेमेन्द्र के अन्य अध्येताओं की इस विषय में क्या मान्यताएँ हैं, यह देखना भी, प्रतिपाद्य विषय के सांगोपांग विवरण हेतु, आवश्यक प्रतीत होता है । इसलिए उनके भी अभिमतों को यहाँ उद्धृत किया जाता है ।

(अ) श्री० बील् महोदय, जिन्होंने पौरस्त्य चरित्रकोश को सिद्ध किया है, क्षेमेन्द्र के नाम का निर्देश भी नहीं करते हैं ।[१७] .

(आ) क्षेमेन्द्र के विषय में आउफ्रेश्ट् कहते हैं—"क्षेमेन्द्र also व्यासदास son of Prakacendra, grandson of Sindhu . . . ."[18]

(इ) डॉ० काणे,[१९] डॉ० राघवन्,[२०] डॉ० सी० कुञ्जन् राजा,[२१] डॉ० कीथ्,[२२] डॉ० गौरीनाथ शास्त्री,[२३] डॉ० रमारंजन मुखर्जी,[२४] श्री० हंसराज अग्रवाल[२५] आदि संस्कृत के अधिकारी विद्वानों में से कोई भी 'व्यासदास' शब्द को क्षेमेन्द्र के उपनाम के रूप में नहीं बतलाता है ।

(ई) डॉ० वरदाचारी का अभिप्राय यह है कि, चूँकि क्षेमेन्द्र को व्यास के आशीर्वाद

प्राप्त थे इस लिए व्यासदास उसकी उपाधि थी। डॉ० वरदाचारी के मूल वचन हैं—"He had the title Vyasadasa, as he received the blessings of the sage Vyasa."[26]

(उ) क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह के सम्पादकों का मत है—"Kṣemendra was a great admirer of Vyasa. He summarised the Mahabharata in his Bhāratamañjarī, and acquired the title Vyasadasa"[27]

ऊपर उद्धृत मतों से 'व्यासदास' के विषय में तीन विचारधाराएँ प्रतीत होती हैं—(१) 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का अपरनाम था, (२) व्यासदास क्षेमेन्द्र की उपाधि थी, और (३) क्षेमेन्द्र को उक्त उपाधि दी गई थी अथवा उसे वह प्राप्त हुई थी।

उपर्युद्धृत अवतरण (ई) में डॉ० वरदाचारी क्षेमेन्द्र के द्वारा आशीर्वाद की प्राप्ति के विषय में बड़े विश्वास से लिखते हैं, वह कुछ मनोरंजक प्रतीत होता है। किन्तु उस छोटी-सी बात को छोड़कर एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकाला जा सकता है कि, उक्त विद्वानों में से किसी ने भी यह नहीं कहा है कि, 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम था।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है। क्या क्षेमेन्द्र के समय में (ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी) उपनाम लिखने की प्रथा रूढ़ थी ? उसके परवर्ती तथा पूर्ववर्ती कवियों में से कितने कवियों के उपनाम प्राप्त होते हैं ? यदि इस प्रथा का कोई प्रमाण मिल जाता है तो हम कह सकते हैं कि, उपनाम लिखने की पद्धति उस समय में प्रचलित थी और हो सकता है 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम भी हो। परन्तु, वास्तविक बात यह है कि, आर्यशूर, भर्तृहरि, दण्डी, बाणभट्ट, कालिदास, भारवि, अमरक, मूक, लक्ष्मण आदि अनेक कथाकार, चम्पूकर्ता, प्रहसनकार, नाटककार, कवि सब क्षेमेन्द्र से पहले हो गये थे, किन्तु उनमें से राजशेखरभवभूति-प्रभृति दो-चार व्यक्तियों को छोड़कर अन्य सभी व्यक्तियों के कुल, आप्तवर्ग, मातापिता, आदि के विषय में कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। इतना ही नहीं, कालिदास, दण्डी, बाण आदि व्यक्तिनाम प्रतीकात्मक अथवा सांकेतिक विशेषण स्वरूप प्रतीत होते हैं, उनकी सत्यता के विषय में सन्देह ही होता है।[२८] जहाँ व्यक्तिनामों की यह स्थिति थी, वहाँ उपनामों के विषय में क्या कहना है ? तात्पर्य, 'उपनाम' लिखने की प्रथा ही क्षेमेन्द्र के समय में रूढ़ नहीं थी, ऐसा समझना अयुक्तियुक्त न होगा। उपनाम लिखने की प्रथा का प्रारम्भ बहुत उत्तर काल में अर्थात् ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में हुआ यह बात डॉ० गोडे के द्वारा सप्रमाण बतलायी गई है।[२९] क्षेमेन्द्र ग्यारहवीं शताब्दी में हुआ था, इसलिए उसके द्वारा उपनाम को प्रयुक्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता है। तात्पर्य यह है कि, 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का अपरनाम ही है, उपनाम कदापि नहीं, जैसा दे एवं कृष्णम्माचारियर समझते हैं।

यहाँ एक शंका उत्पन्न होती है। उक्त दो पण्डित सामान्य विद्वान् नहीं है, वे विख्यात एवं विद्वन्मान्य पण्डित हैं। फिर भी वे 'व्यासदास' नामसे कैसे चकराये ? क्या अपरनाम एवं उपनाम के भेद से वे परिचित नहीं थे ? यदि वे परिचित थे, तो इतना स्थूल प्रमाद उनसे कैसे हुआ ? इस प्रश्न का सम्भवनीय उत्तर देकर आगे हम अन्य विषयों का विवेचन करेंगे।

यदि कोई व्यक्ति अपना सम्पूर्ण नाम संस्कृत भाषा में लिखना चाहता हो, तो उसे उपनाम, पितृनाम, एवं व्यक्तिनाम (अर्थात् स्वनाम) इस क्रम से सर्वसाधारणतया[30] निर्देश करने पड़ते हैं। सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी के जिन थोड़े से संस्कृत साहित्यकारों ने अपने सम्पूर्ण नाम उद्धृत किये हैं उन्होंने इसी क्रम को अंगीकृत किया है। उदाहरण के लिए, 'शृङ्गारवापिका' नामक नाटिका की समाप्ति-पुष्पिका में लेखक के नाम का निर्देश इस प्रकार किया हुआ है—'इति श्रीचित्तपावनजातीयरानड्योपनामककविविश्वनाथभट्टविरचिता शृङ्गारवापिका नाम नाटिका काश्यां परिपूर्णा सम्वत् १७६३ समए अगहन वदि अष्टमी।'[31] इस सन्दर्भ में और भी एक उल्लेख द्रष्टव्य है—'इति नवहस्तरघुनाथभट्टविरचितप्रायश्चित्तप्रकरणं समाप्तम्।'[32] अन्य एक यह भी निर्देश देखने योग्य है—'इति श्रीकविकौस्तुभे महाकाव्यकविकुलावतंसमनोहरोपनामकृष्णपण्डितसूनुश्रीमद्भिकंभटसूरिसुतश्रीमद्रघुनाथपण्डितकविकृतौ दूषणकथनं नाम द्वितीयं रत्नम्।'[33]

उक्त तीनों अवतरणों में प्रथम उपनाम का निर्देश प्राप्त होता है, और तत्पश्चात् व्यक्तिनाम का। क्षेमेन्द्र के ग्रन्थों में से जो वचन हम ऊपर उद्धृत कर आये हैं, उनमें सर्वत्र 'व्यासदास' का उल्लेख प्रथम हुआ है और 'क्षेमेन्द्र' का तत्पश्चात्। इसको देखकर ही कदाचित् दे एवं कृष्णम्माचारियर को 'व्यासदास' को क्षेमेन्द्र का उपनाम कहने का मोह हुआ होगा।

उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकल आता है कि, 'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम नहीं है। किन्तु यह निष्कर्ष निषेधात्मक अथवा नास्तिपक्ष का (negative) है। उससे 'व्यासदास' शब्द के सत्स्वरूप का बोध नहीं हो पाता है। इसी लिए मनमें अनेक समस्याएँ तरंगित हो उठती हैं। वे हैं—

(अ) क्या 'व्यासदास' उपाधि क्षेमेन्द्र को किसी ने दी थी ?

(आ) यदि ऐसा न हुआ हो तो क्या उस उपाधि को उसने स्वयं ही धारण किया था ?

(इ) यदि वैसा हुआ हो, तो क्यों ?

(ई) क्या इस प्रकार के उपाधियों के अन्य कविकृत निर्देश पाये जाते हैं ?

(उ) यदि हों तो उन कवियों ने उन उपाधियों को क्यों धारण किया था ?

यदि हम उक्त समस्याओं पर विचार करते हैं तो 'व्यासदास' शब्द के विधिरूप (positive) अर्थ को पाएँगे । इसलिए हम उक्त प्रश्नों की क्रमशः चर्चा करेंगे ।

'व्यासदास' क्षेमेन्द्र की उपाधि थी यह डॉ० वरदाचारी की धारणा थी, ऐसा उल्लेख हमने ऊपर किया ही है । क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसंग्रह के सम्पादकों के अभिमत से क्षेमेन्द्र ने इस उपाधि को प्राप्त किया था, यह भी हम ऊपर कह आये हैं । अब इन दोनों मन्तव्यों का परामर्श करेंगे ।

किसी कवि के कवित्व का अथवा पण्डित के पाण्डित्य का गौरव करने हेतु उसे कोई बहुमानसूचक उपाधि प्रदान करने की प्रथा प्राचीन समय में प्रचलित थी । ऐसी उपाधियों के निर्देश सम्बन्धित ग्रन्थकारों के शिष्यों अथवा अनुयायियों के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं । उदाहरण के लिए, 'प्रसन्नराघव' नाटक के कर्ता जयदेव कवि थे । उनकी पद्यरचना के कारण उन्हें 'पीयूषवर्ष' कहा करते थे ।[३४] 'धूर्तसमागम' नामक प्रहसन के कर्ता ज्योतिरीश्वर की उपाधि 'कविशेखर' थी ।[३५] ध्वनिकार 'सहृदय' उपाधि से सम्बोधित हुआ करते थे ।[३६] किरणावली, तात्पर्यपरिशुद्धि आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों के कर्ता उदयनाचार्य को, उनके न्यायवैशेषिक दर्शनान्तर्गत प्रावीण्य के कारण, लोग 'न्यायाचार्य' कहा करते थे । गंगेशोपाध्याय के 'तत्त्वचिन्तामणि' की 'तत्त्वचिन्तामण्यालोक' नामक टीका लिखने वाले जयदेव 'पक्षधरमिश्र' उपाधि से सम्बोधित हुआ करते थे । राजशेखर स्वयं अपने को 'कविराज' कहा करते थे, यह बात प्रसिद्ध है ।[३७] इस प्रकार अनेक प्राचीन कवियों की स्वगृहीत अथवा इतरदत्त उपाधियों के निर्देश पाये जाते हैं । यदि क्षेमेन्द्र की 'व्यासदास' उपाधि इतरदत्त होती, तो उसका उस रूप में उल्लेख स्वयं क्षेमेन्द्र के द्वारा ही हो गया होता । कारण, उसने अपने अन्य विशेषणों का निर्देश स्वयं किया है । उदाहरण के लिए, वह अपने को 'सर्वमनीषिशिष्य'[३८] कहता है । इसके अतिरिक्त वह अपनी बृहत्कथामञ्जरी के उपसंहारात्मक श्लोकांक[३८] में 'नारायणपरायण'[३९] विशेषण से अपना वर्णन किया करता है । वह स्वयं कहता है कि, भारतमञ्जरी की रचना के कारण मुझे 'कवीन्द्रता'[४०] प्राप्त हुई । भारतमञ्जरी के कारण ही उसके नाम का उल्लेख कविमण्डलियों में होने लगा ।[४१] संक्षेप में, अपने कार्य का इतने स्मरण एवं नम्रत्व के साथ निर्देश करने वाला क्षेमेन्द्र, यदि व्यासदास उपाधि अन्यप्रदत्त होती, तो उसका भी निर्देश अवश्य कर देता । किन्तु, वैसा निर्देश प्राप्त नहीं होता है । इससे यह सहजतया अनुमान होता है कि, 'व्यासदास' उपाधि अन्यदत्त नहीं थी । उसको क्षेमेन्द्र ने स्वयं ही धारण कर लिया था ।

अब यह प्रश्न उठता हैं कि, ऐसा करनेका कारण क्या था ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयत्न करेंगे । यह बात प्रसिद्ध है कि, व्यासरचित महाभारत का

संक्षेप क्षेमेन्द्र के द्वारा भारतमंजरी में हुआ था। क्षेमेन्द्र के मन में महर्षि व्यास के प्रति अपार आदर एवं उच्च कोटि का पूज्यभाव था। उसे महर्षि व्यास 'भुवनोपजीव्य'[४२] प्रतीत होते थे। वह महर्षि व्यास को 'ज्ञाननिधि' विशेषण से सम्बोधित करता है। इसके अतिरिक्त उसने अपने 'सुवृत्ततिलक' शीर्षक के ग्रन्थ में महर्षि व्यास का गौरव निम्नोद्धृत शब्दों में किया है—

'नमश्छन्दोनिधानाय सुवृत्ताचारवेधसे।
तपःसत्यनिवासाय व्यासायामिततेजसे॥'[४३]

व्यासविरचित महाभारत अन्य कवियों की आजीविका का उत्कृष्ट साधन है, यह क्षेमेन्द्र की धारणा थी।[४४] क्षेमेन्द्र के अन्तःस्थित इस पूज्यभाव से ही निम्नोट्टङ्कित 'व्यासाष्टक' स्तोत्र का निर्माण हुआ है —

"नमो ज्ञानानलशिखापुञ्जपिङ्गजटाभृते।
कृष्णायाकृष्णमहसे कृष्णद्वैपायनाय ते॥ १॥
नमस्तेजोमयश्मश्रुप्रभाशबलितत्विषे।
वक्त्रवागीश्वरपद्मरजसेवोदिताश्रिये॥ २॥
नमः सन्ध्यासमाधाननिष्पीतरवितेजसे।
त्रैलोक्यतिमिरोच्छेददीपप्रतिमचक्षुषे॥ ३॥
नमः सहस्रशाखाय धर्मोपवनशाखिने।
सत्त्वप्रतिष्ठापुष्पाय निर्वाणफलशालिने॥ ४॥
नमः कृष्णाजिनजुषे बोधनन्दनवासिने।
व्याप्तायेवालिजालेन पुण्यसौरभलिप्सया॥ ५॥
नमः शशिकलाकारब्रह्मसूत्रांशुशोभिने।
श्रिताय हंसकान्त्येव संपर्कार्कमलौकसः॥ ६॥
नमो विद्यानदीपूर्णशास्त्राब्धिसकलेन्दवे।
पीयूषरससाराय कविव्यापारवेधसे॥ ७॥
नमः सत्यनिवासाय स्वविकाशविलासिने।
व्यासाय धाम्ने तपसां संसारायासहारिणे॥ ८॥"[४५]

उक्त विवेचन एवं व्यासाष्टक से यह स्पष्ट होता है कि, क्षेमेन्द्र के अन्तःकरण में महर्षि व्यास के प्रति उत्कट आदरभाव था। इसी को अभिव्यक्त करने हेतु उसने अपने लिए 'व्यासदास' (व्यास महर्षि के पुण्यपावन चरणों का सेवक) उपाधि को अंगीकृत किया और उसीका प्रयोग अपने काव्यग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पूज्यबुद्धि से किया।

अब प्रश्न यह उठता है कि, क्या क्षेमेन्द्र की इस कृति (उपाधि धारण करने की कृति) का समर्थन परम्परा के द्वारा हो सकता है ? अपरनामों को धारण करने वाले और उनका स्पष्ट प्रयोग अपनी साहित्यिक कृतियों में करने वाले और कोई कवि प्राचीन समय में थे ? इस प्रश्न का उत्तर भावात्मक प्राप्त होता है । पूर्णदास, देवदास, अनन्तदास, कालिदास, कृष्णदास, धर्मदास, हरिदास, विष्णुदास, दामोदरदास, सूर्यदास इत्यादि 'दास-अन्त' नामों को धारण करने वाले अनेक कवि प्राचीन समय में हुए। उनमें से कुछ के नामकरण उनके मातापिताओं ने किये थे । परन्तु, कालिदास-सूर्यदास प्रभृति अनेक कवियों ने किसी विशिष्ट देवता, तत्त्व अथवा गुरु के प्रति अपनी श्रद्धा को चिरस्थायी रूप देने की इच्छा से ही उक्त नामों को धारण किया था । ऐसे कवि अपने-अपने ग्रन्थों में अपने अपरनामों के निर्देश अभिमान के साथ करते हुए पाये जाते हैं, यह बात ध्यान देने योग्य है । उदाहरण के लिए, वासुदेवकृत 'युधिष्ठिरविजय' नामक यमककाव्य की 'पदार्थचिन्तन' शीर्षक टीका लिखनेवाला विद्वान् राघव श्रीकण्ठ का शिष्य था । वह 'श्रीकण्ठदास' नाम से सम्बोधित हुआ करता था ।[४६] 'विद्धशालभंजिका' शीर्षक नाटक की 'मार्गदर्शिनी' नामक टीका करनेवाला वासुदेव अपनी टीका के अन्त में कहता है—'इति श्रीमत्करुणाकरशिष्येण साहित्यमल्लापराख्येन विरचितायां विद्धसालभञ्जिकामार्गदर्शिन्यां पञ्चमोऽङ्कः समाप्तः ।'[४७] यहाँ तो टीकाकार के द्वारा न केवल अपने गुरु के नाम का अपि तु, अपने अपरनाम का भी निर्देश किया गया है । केरल का कवि महर्षि 'त्रैविद्येश' अपरनाम से प्रसिद्ध था, इसके प्रमाण में यह उक्ति पढ़िए—'इति त्रैविद्येशापरनामधेयश्रीमहर्षिपुत्रपरमेश्वरविरचिते सूत्रार्थसङ्ग्रहे तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ।[४८] आनन्दरामायण में एक स्थान पर ऐसा कहा गया है कि, राम एवं विष्णु नामक क्रमशः गुरु एवं शिष्य को, उनकी रामसेवा के कारण, रामदास एवं विष्णुदास नाम प्राप्त हुए थे ।[४९] अनन्तदास, कृष्णदास, गणेशदास, रामदास, विष्णुदास आदि अनेक प्रसिद्ध मराठी कवियों के नाम 'दासान्त' ही हैं । प्रसिद्ध दार्शनिक मराठी कवि ज्ञानेश्वर के गुरु का नाम 'निवृत्ति' था, इस लिए वे अपने को 'निवृत्तिदास' कहते हैं ।[५०] 'राधाविलास' नामक मध्ययुगीय मराठी काव्य के रचयिता ने अपने 'कृष्णानन्दनिमग्न' विशेषण का उल्लेख उक्त काव्य में किया है ।[५१] सीतास्वयंवरादि मराठी काव्यों के कर्ता का कुलदेवता विट्ठल था । अतः वह अपना नाम 'विट्ठलदास' लिखता था ।[५२] विठा नामक और एक प्राचीन मराठी कवि अपने नाम के आगे अपने गुरु का नाम रेणुकानन्दन लिखा करता था ।[५३] हिन्दी कवियों में तुलसीदास, सूरदास, कृष्णदास, नन्ददास, कुम्भनदास, परमानन्ददास, चतुर्भुजदास, आदि 'दासान्त' नाम धारण करने वाले कवि सुविख्यात हैं ।[५४] इसी प्रकार हरिदास, कृष्णदास, रामदास, वेणीमाधवदास, ध्रुवदास नरोत्तमदास, वृन्दावनदास आदि हिन्दी कवियों के ही 'दासान्त' नाम ध्यान देने योग्य हैं ।[५५] तात्पर्य,

अपने अपर नाम का निर्देश करने की प्रथा प्राचीन कवियों में प्रचलित थी और उसीका पालन क्षेमेन्द्र ने भी किया था।

इस लेख में किये गए विवेचन से निष्पन्न प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१—'व्यासदास' शब्द का प्रयोग स्वयं क्षेमेन्द्र ने ही अपने ग्रन्थों में अनेक बार किया था।

२—'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का अपरनाम था।

३—'व्यासदास' क्षेमेन्द्र का उपनाम (surname) नहीं था।

४—'व्यासदास' उपाधि क्षेमेन्द्र को किसी के द्वारा नहीं दी गई थी।

५—क्षेमेन्द्र ने स्वयं उस उपाधि को धारण किया था।

६—उस उपाधि के द्वारा क्षेमेन्द्र ने अपनी व्यासविषयक श्रद्धा को अभिव्यक्त किया था।

७—इस प्रकार अपर नाम को धारण करने की तथा उसे निर्दिष्ट करने की प्रथा प्राचीन कवियों में प्रचलित थी।

८—उपनाम लिखने की पद्धति का आरम्भ, संस्कृत कवियों में, सत्रहवीं शताब्दी में हुआ।

९—'व्यासदास' शब्द के विषय में डॉ० दे एवं डॉ० कृष्णम्माचारियर की धारणाएँ नितान्त भ्रान्त एवं प्रामादिक हैं।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. Dr. S. N. Dasgupta and Dr. S. K. De—*A History of Sanskrit Literature, Classical Period Volume I, Calcutta*, second edition, 1962, (अत:पर DDHSL संकेत से निर्दिष्ट) p. 404

२. Dr. S. K. De—*History of Sanskrit Poetics*, Volume I, Calcutta, 1960, (अत:पर DSP संकेत से निर्दिष्ट), p. 129. ३. Ibid p. 131.

४. Dr. M. Krishnammachariar—*History of Classical Sanskrit Literature*, Madras, 1937, p. 170.

५. DSP, p. 91 ६. DDHSL, p. 462.

७. Ibid p. 472. ८. Ibid p. 499.

९. वैसा डॉ० दे ने DDHSL p. 462 पर लिखा भी है।

१०. आर्येन्द्रशर्मा, राघवाचार्य एवं पाध्ये सम्पादित **क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसङ्ग्रहः**, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, १९६१ (अतःपर संग्रह संकेत से निर्दिष्ट), पृ० ६

११. तत्रैव पृ० ८ १२. तत्रैव पृ० ६२

१३. तत्रैव पृ० ९३, १०९, एवं ११६ १४. तत्रैव पृ० ६२ १५. तत्रैव पृ० १०४

१६, क्षेमेन्द्र, **भारतमंजरी**, काव्यमाला ६४, बम्बई, १८९८ (अतःपर 'मंजरी' संकेत से निर्दिष्ट) पृ० १५०

१७. T. W. Beale—*An Oriental Biographical Dictionary,* London, revised and enlarged new edition, 1894.

१८. Theodor Aufrecht—*Catalogus Catalogorum, Part I,* edition of 1962, p. 135.

१९. Dr. P. V. Kane *History of Sanskrit Poetics,* Delhi, third revised edition, 1961.

२०. Dr. V. Raghavan—*Some Concepts of the Alaṅkāra Śāstra,* Madras, 1942.

२१. D. C. K. Raja *Survey of Sanskrit Literature,* Bombay, 1962.

२२. Dr. A. B. Keith—*A History of Sanskrit Literature,* London, reprinted in 1953.

२३. Dr. Gaurinath Sastri—*A Concise History of Classical Sanskrit Literature,* Calcutta, Second edition, 1960.

२४. Dr. Ramaranjan Mukherji—*Literary Criticism in Ancient India,* Calcutta, first edition, October 1966.

२५. Hans Raj Aggarwal *A Short History of Sanskrit Literature,* Delhi, second, edition, 1963.

२६. Dr. V. Varadachari—*A History of The Saṁskṛta Literature,* Allahabad, Second edition, 1960 (अतःपर VHSL संकेत से निर्दिष्ट)

२७. संग्रह, Introduction, p. 3. २८. द्रष्टव्य—VHSL, pp. 6-7.

२९. Dr. P. K. Gode *Studies in Indian Literary History* (अतःपर SLH संकेत से निर्दिष्ट), Vol. II, Bombay, 1954, p. 262.

३०. 'सर्वसाधारणतया' कहने का कारण यह है कि, कभी-कभी इस क्रम का भंग भी हुआ दृष्टिगोचर होता है। उदाहरण के लिए, निम्नोद्धृत पद्य में प्रथम व्यक्ति नाम, तत्पश्चात् उपनाम और तदन्तर पितृनाम इस क्रम से नामों के निर्देश पाये जाते हैं—

'प्रणम्य परमात्मानं नीलकण्ठो विचक्षणः ।
थत्थोपनामकः सूरिर्विनायकतनूद्भवः ॥'
—द्रष्टव्य SLH, Vol. III, Poona, 1956, p. 83.

३१. SLH, Vol. II, Bombay, 1954, p. 270 ३२. Ibid, p. 407.

३३. SLH, Vol. III, Poona, 1956, p. 36. ३४. VHSL, p. 160.

३५. Ibid ३६. Ibid, p. 177.

३७. 'कविराज' का लक्षण है—'यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः सः कविराजः ।' कविराजराजशेखरविरचिता **काव्यमीमांसा**, सम्पादक-मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४, पृ ९२. ३८. संग्रह पृ. ६२

३९. क्षेमेन्द्र, **बृहत्कथामंजरी**, काव्यमाला ६९, मुंबई, १९०१

४०. 'एष विष्णुकथातीर्थपुण्यवत्सलिलोक्षितः ।
प्राप्तः सामान्यजल्पोऽपि क्षेमेन्द्रोऽद्य कवीन्द्रताम् ॥'—मंजरी, पृ ८५१, पद्यांक ५.

४१. तत्रैव, पद्यांक ७. ४२. संग्रह पृ ६८

४३. तत्रैव पृ ८५. ४४. तत्रैव पृ ६८ ४५. संग्रह पृ ८

४६. द्रष्टव्य Dr. K. Kunjunni Raja—*The Contribution of Kerala to Sanskrit Literature*, Madras, 1958 (अतःपर CKSL संक्षेप से निर्दिष्ट), p. 25, footnote 132.

४७. CKSL, p. 73, footnote 40. ४८. Ibid p. 97, footnote 114

४९. वि. वा. बापट (मराठी भाषान्तरकार), **आनन्दरामायण**, मुंबई, तीसरी आवृत्ती, १९२८, पृ० ९७.

५०. द्रष्टव्य-म. शं. गोडबोले (संपादक व अनुवादक) **सार्थ श्रीज्ञानेश्वरी**, पुणे, पहिली आवृत्ती, ऑगस्ट १९७७, पद्यांक १/२७५, २/३७५, ४/२२५, ५/१८०, १८/१८०९ इत्यादि ।

५१. द्रष्टव्य-वा. दा. ओक (संपादक) अनेककविकृत **लघुकाव्यमाला**, भाग दुसरा, मुंबई, १८९६, पृ० ५१, पादटिप्पणी ३.

५२. वि. ल. भावे (पुरवणीकार शं. गो. तुलपुले), **महाराष्ट्र-सारस्वत** पुरवणीसह, मुंबई, आवृत्ती पाचवी, १९६३ (अतःपर सारस्वत संकेत से निर्दिष्ट), पृ० ३७६

५३. सारस्वत पृ० २२४

५४. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, **हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास**, इलाहाबाद, १९६१ पृ० १७ ५५. तत्रैव पृ० ११५ एवं १२२.

काव्यशास्त्रकार वामन का मौलिक चिन्तन

वामन के ग्रंथ की विशेषता

प्राचीन समय में भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले जो अनेक प्रगल्भ विचारक हुए, उनमें वामन की परिगणना प्रमुख रूप से होती है। उसके द्वारा 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' नामक ग्रन्थ का प्रणयन हुआ। यह ग्रन्थ सूत्रबद्ध[1] होकर उसमें पठित सूत्रों की संख्या लगभग तीन सौ बीस हैं। स्वयं सूत्रकारने ही सूत्रों का विवरण करने हेतु 'कविप्रिया'[2] नामक वृत्ति[3] लिखी है। सूत्रों एवं वृत्ति में अभिव्यक्त विचारों के स्पष्टीकरणार्थ सूत्रकारने उदाहरण-पद्यों को भी समुद्धृत किया है। संस्कृत भाषा में निबद्ध काव्यशास्त्रीय सभी ग्रन्थों का स्वरूप साधारणतया एक समान ही है। किन्तु वामन द्वारा रचित प्रस्तुत ग्रन्थ अनेक कारणों से अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न हैं। वे कारण इस प्रकार हैं:—

(अ) नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने नाट्यप्रयोग[4] को सर्वाङ्गिणी यशस्विता अथवा सिद्धि[5] को ही प्रयोजन मानकर तदनुसार अपने ग्रन्थ में आङ्गिकादि चतुर्विध अभिनय का विवेचन किया है। उनमें से वाचिक अभिनय गद्यबद्ध एवं पद्यबद्ध पाठ्य है। नाटककार उस पाठ्य को लिखता है, नट उसको 'निर्माण' करता है और रसिक प्रेक्षकगण उसका आस्वादन कर आनन्द का अनुभव करते हैं। नाट्यगत पाठ्य का स्वरूप ऐसा होने से भरत ने अपने ग्रन्थ में गद्य-पद्य का स्वरूप, उनकी भाषा, उनका विनियोग, उनके गुणदोष, अलंकार आदि घटकों का ऊहापोह एवं विवेचन अपने ग्रन्थ के १४ से १९ अध्यायों में सम्यक्तया किया है। भरत ने किया हुआ नाट्यगत काव्य का यह ऊहापोह एवं विवेचन ही भारतीय काव्यशास्त्र का मूलस्रोत माना जाता है। इसी अल्पविस्तृत ऊहापोह एवं विवेचनधारा को ही भरतोत्तर समय में 'विपुल एवं लोकवन्द्य'[6] प्रवाह का स्वरूप प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र का शिलान्यास भरताचार्य के द्वारा हुआ है, यह निर्विवाद है। किन्तु उसके उत्कर्ष-काल के विषय में पण्डितों में प्रचुर मतभेद हैं। उनका सूक्ष्म बुद्धि से विश्लेषण कर डॉ. काणे[7] ने निष्कर्ष रूप में कहा है कि, भरत का नाट्यशास्त्र ई० सन् ३०० के लगभग सिद्ध हुआ है। सम्प्रति हमने इसी निष्कर्ष को प्रमाण माना है। भरतोत्तर समय में काव्यशास्त्रीय चिन्तन प्रचुर मात्रा में होने लगा और गुप्त सम्राटों के समय[8] में इस शास्त्र की उन्नति ग्रन्थप्रणयन के द्वारा गति से होने लगी। ई० स० ८०० के आसपास वामन का उत्कर्ष हुआ, ऐसा डॉ० काणे[9], डॉ० कीथ्[10] आदि बहुसंख्य प्राच्यविद्याविशारदों का मन्तव्य है। भरतोत्तर एवं वामनपूर्व काल के मध्य मेधावी[11],

रामशर्मा[१२], श्यामदेव[१३], भामह[१४], दण्डी[१५], एवं उद्भट[१६] आदि शास्त्रकार हुए थे। भरत एवं वामन के मध्य ५०० वर्ष व्यतीत हुए थे। इस प्रदीर्घ समय में विरचित अनेक लक्ष्यग्रन्थों[१७] तथा लक्षणग्रन्थों[१८] का अध्ययन, परिशीलन एवं पृथक्करण करने का सुअवसर वामन को प्राप्त हुआ था।

(आ) वामन ने उक्त सुअवसर से अच्छा लाभ उठाया। वामन-पूर्वकालिक शास्त्रकारों में से जिसका ग्रन्थ सम्प्रति उपलब्ध है, ऐसा आद्य शास्त्रकार भामह था। उसके समय में भारतीय काव्यशास्त्र का मानो उद्गम हुआ था। फलस्वरूप अनेक विचार एवं कल्पनाएँ उस समय अस्पष्ट एवं अपरिपुष्ट थीं। अतः भामह के ग्रन्थ में काव्यफल, सत्कविप्रशंसा, काव्यसामग्री, अलंकार, काव्यस्वरूप, काव्य के वर्ग, काव्यलक्षण, काव्यदोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार, शास्त्रन्याय, काव्यन्याय, प्रयोज्याप्रयोज्यशब्द आदि विचारबिन्दुओं का विवेचन अत्यन्त अव्यवस्थित एवं क्रमहीन पद्धति से हुआ है। भामह के समय में काव्यशास्त्र बाल्यकाल में ही था, इसका यह प्रमाण है कि, यद्यपि भामह द्वारा करीब करीब चार सौ[१९] कारिकाएँ लिखीं गईं, तथापि उपरिनिर्दिष्ट अव्यवस्थितता[२०] के दोष का परिहार उनमें न हो सका। भामहोत्तरकालीन दण्डी ने अपने 'काव्यलक्षण' (काव्यादर्श) नामक ग्रन्थ में कुल ६५७ कारिकाओं[२१] की रचना की। उनमें दण्डी ने काव्यलक्षण के प्रणयन की प्रतिज्ञा, काव्यशास्त्र की प्रशंसा, काव्यशरीर, काव्यभेद, महाकाव्यादि काव्यभेदों के लक्षण, श्लेषादि दस गुण, काव्यकारण, अलंकारलक्षण, अर्थालंकार, शब्दालंकार, चित्रकाव्य, काव्यदोष आदि विषयों का सुविस्तृत एवं सोदाहरण विवेचन किया है। उक्त ग्रन्थ की कुल ६५७ कारिकाओं में से करीब करीब ५०० कारिकाएँ केवल अलंकारों के वर्णन में ही व्ययित हुई हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि, दण्डी भी काव्यशास्त्र के अन्तर्गत विविध विषयोपविषयों का यथाप्रमाण, सुव्यवस्थित, संक्षिप्त एवं स्वयंपूर्ण विवेचन एवं विवरण करने में असमर्थ रहा। इसका कारण दण्डी की कुछ विस्तारप्रियता है। दण्डी के पश्चात् जो प्रसिद्ध काव्यशास्त्रकार हुआ उसका नाम उद्भट था, जिसने अपने 'काव्यालङ्कारसारसङ्ग्रह' नामक ग्रन्थ का विभाजन छः वर्गों (प्रकरणों) में किया। उसने कुल ७५ कारिकाओं की रचना की, किन्तु उनमें उसने शब्दार्थालंकारों के अतिरिक्त और किसी भी विषय की चर्चा नहीं की। उद्भट वामन का समसामयिक शास्त्रकार था, इस तथ्य पर ध्यान देने पर यह प्रतीत होता है कि, यद्यपि वामन के समय तक काव्यशास्त्र पर विपुल विचार हो चुका था, तथापि उसमें प्रमाणबद्धता, सुव्यवस्थितता, अनुशासनयुक्तता आदि गुणों का अभाव ही था। किसी भी शास्त्रविषयक ग्रन्थ में इन गुणों का होना अनिवार्य माना जाता है। इन गुणों के अंगीकरण का महत्त्वपूर्ण कार्य वामन द्वारा अपने ग्रंथ में हुआ है। उसने अपने ग्रन्थ के लिए अल्पाक्षर-सारवती सूत्रशैली का अंगीकार किया है। इसके अतिरिक्त अपने विचारों के विपर्यास को टालने के लिए स्वरचित सूत्रोंपर स्वयं वृत्ति लिखी है। इन

दो बातों के विषय में वामन के पूर्वसूरियों को सफलता नहीं मिल सकी थी। इनके अतिरिक्त उसने अपने ग्रंथ के शरीर, दोषदर्शन, गुणविवेचन, आलंकारिक एवं प्रायोगिक नामक पाँच अधिकरणों की कल्पना कर उन अधिकरणों को पुनः बारह प्रकरणों अर्थात् अध्यायों में विभक्त किया है, जिनके नाम इस प्रकार हैं—१. प्रयोजनस्थापना, २. अधिकारिचिन्ता रीतिनिश्चयश्च, ३. काव्यांगानि काव्यविशेषाश्च, ४. पदपदार्थदोषविभागः, ५. वाक्यवाक्यार्थ-दोषविभागः, ६. गुणालंकारविवेकः शब्दगुणविवेकश्च, ७. अर्थगुणविवेचनं, ८. शब्दालंकार-विचारः, ९. उपमाविचारः, १०. उपमाप्रपंचविचारः, ११. काव्यसमयः एवं १२. शब्दशुद्धिः। इन विषयों के प्रतिपादन एवं विवेचन में वामन के अनेक बौद्धिक गुणों का दर्शन होता है, जैसे विषय की व्याप्ति को ध्यान में रखकर आवश्यक मात्र चर्चा करना, अपने पक्ष का समर्थन आत्मविश्वास एवं दृढ़निश्चय के साथ करना, विपक्ष के विचारों का खण्डन साधार किन्तु संक्षेप में करना, शास्त्रशैली का अवलम्ब कर परिहार्य विस्तार को टालना, विषय के प्रतिपादन में क्रमबद्धता, संक्षिप्तता एवं अनुशासनयुक्तता को उतारना आदि। वामन द्वारा काव्यलक्षणविषयक ग्रंथरचना की एक 'रीति' (पद्धति) मानो आविष्कृत हुई। वह इतनी प्रभावशालिनी सिद्ध हुई कि, वामनोत्तर समय के ग्रंथकारों ने उसी पद्धति का अनुसरण कर अपने-अपने ग्रंथों की रचना की। इसी लिए डॉ० झा ने अनुशासनप्रिय वामन की प्रशंसा करते हुए निम्नोद्धृत विचार प्रकट किये हैं, जो नितान्त समीचीन एवं स्वीकरणीय प्रतीत होते हैं।

"Vāmana is a sober writer possessed of deep insight and capacity for critical judgement and logical analysis. He is the most systematic writer in the old school...He has adopted all that is good in his predecessors...His work is a classic noted for its studied brevity, clear exposition and depth of insight "[22]

वामन ने अपनी इस बौद्धिक गुणसंपदा का पूर्ण रूप से उपयोग कर अपने ग्रंथ में जिन मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है, उन्हीं विचारों के प्रति अब ध्यान देंगे।

१. काव्य सौन्दर्य के कारण आस्वाद्य बनता है।

काव्यबन्ध (शब्दार्थयुक्त रचना) सालंकृत होनी चाहिए, काव्य में सुन्दर शब्दों तथा सुन्दर अर्थों की सहस्थिति होती है, काव्य का शरीर अलंकारों से सदा विभूषित ही होता है, आदि विचारों का प्रतिपादन वामन के पूर्वकालिक, भरत, भामह, दण्डी, उद्भट आदि काव्यलक्षणकारों ने अवश्य किया था, किन्तु काव्य सौन्दर्य के कारण ग्राह्य होता है ऐसा असंदिग्ध शब्दों में कहनेवाला आद्य भारतीय काव्यशास्त्रकार वामन ही है। उसकी एतद्विषयक उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ॥१॥ ··· सौन्दर्यमलंकारः ॥२॥'—सूत्र पृ० १

उक्त वचनों के द्वारा वामन यह सूचित करना चाहता है कि काव्य मानवनिर्मित आह्लाददायक कलाकृति है। काव्य सौन्दर्य के कारण उपादेय अर्थात् विधेय, कृतिसाध्य अथवा आदानक्रियाविषय[२३] होता है। अर्थात् काव्य कवि द्वारा निर्माणयोग्य एवं रसिक द्वारा आस्वादनयोग्य होता है। ऐसा काव्य नित्य सौन्दर्य-सम्पन्न ही होता है। अपने ग्रंथ के पहले दो सूत्रों में ही वामन ने उक्त महत्त्वपूर्ण एवं मौलिक विचारों का प्रतिपादन किया है, यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

२. काव्य का प्रयोजन दृष्टादृष्ट रूप द्विविध होता है।

भरत ने ऐसा प्रतिपादित किया है कि नाटक दुःखित व्यक्तियों को मनःशान्ति प्रदान करता है, चतुर्वर्गविषयक उपदेश करता है एवं मनोरंजन करता है। भामह की दृष्टि से प्रीति एवं कीर्ति काव्य के प्रयोजन हैं। दण्डी एवं उद्भट ने भी अपने-अपने ग्रंथों में काव्य की पुरुषार्थोपदेशकता का वर्णन किया है। किन्तु काव्य के दृष्ट एवं अदृष्ट प्रयोजन होते हैं, ऐसा विवेचन करने का श्रेय भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा में वामन को ही प्रथमतः प्राप्त है। उसके एतद्विषयक वचन इस प्रकार हैं—

"काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थम्. प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥ ५ ॥
काव्यं सत् चारु दृष्टप्रयोजनम्, प्रीतिहेतुत्वात्।
अदृष्टप्रयोजनम्. कीर्तिहेतुत्वात् ॥"—सूत्र पृ० २

वामन के मतानुसार आनंद काव्य का दृष्ट अर्थात् लौकिक प्रयोजन होकर कीर्ति अदृष्ट अर्थात् पारलौकिक प्रयोजन है। भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में काव्य के प्रयोजन के विवेचन-प्रसंग में दृष्ट एवं अदृष्ट शब्दों का सर्वप्रथम प्रयोग वामन के ग्रन्थ में ही पाया जाता है।

३ कविशिष्यों के दो वर्ग होते हैं।

इस विषय का विवेचन करनेवाला आद्य प्राचीन काव्यशास्त्रकार वामन ही है। उसके विचारों के अनुसार कविशिष्यों के विवेकी एवं अविवेकी ऐसे दो वर्ग होते हैं। उनमें से विवेकी शिष्य काव्यशास्त्र की शिक्षा संपादन करने के पात्र होते हैं और अविवेकी शिष्य काव्यशास्त्र की शिक्षा सम्पादन करने के अपात्र हैं। काव्यशास्त्र की रचना सभी प्रकार के शिष्यों के लिए नहीं की जाती है, अपितु सत्पात्र शिष्यों के लिए ही की जाती है। विवेकित्व शास्त्रसंस्कार एवं कवित्व की मूलभूत शर्त है। वामन के ये मौलिक विचार निम्नोद्धृत सूत्रों में मुखरित हुए हैं—

'अरोचकिनः सतृणाभ्यवहारिणश्च कवयः ॥ १ ॥ ···पूर्वे शिष्याः विवेकित्वात् ॥२॥··· नेतरे तद्विपर्ययात् ॥३॥···'न शास्त्रमद्रव्येष्वर्थवत् ॥४॥
—सूत्र पृ० २-३

४. रीति काव्य की आत्मा है।

वामनपूर्वकालिक भामहने तो वैदर्भ, गौड़ीय आदि काव्यभेदों का असंदिग्ध शब्दों में निषेध किया था।[२४] दण्डीने अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद में ही वैदर्भी एवं गौड़ी रीतियों के गुणों का सुविस्तृत विवेचन किया था।[२५] किन्तु इन दोनों में से किसी ने भी रीति को काव्य की आत्मा नहीं बतलाया था। रीति को काव्यात्मा बतलाने वाला आद्य भारतीय काव्यमीमांसक वामन ही है। उसने मानो घोषणा ही की है **'रीतिरात्मा काव्यस्य ॥'** (सूत्र पृ० ३)। वामन का यह सिद्धान्त भारतीय काव्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकासक्रम में विशेष महत्त्व रखता है। यद्यपि भामह, दण्डी, उद्भट आदि वामनपूर्वकालिक आचार्यों को यह अवश्य प्रतीत हुआ था कि, काव्य में कोई अविनश्वर, नित्य, एवं जीवित तत्त्व होता है, किन्तु उनमें से किसी ने भी उस तत्त्व को स्पष्टतया प्रतिपादित नहीं किया था। वामन ही उस तत्त्व का आद्य उद्गाता है। उसकी इस कृति की प्रशंसा डॉ० लाहिरी,[२६] डॉ० कीथ,[२७] डॉ० दे[२८] आदि सभी विद्वानों ने की है, जो समीचीन एवं न्यायपूर्ण प्रतीत होती है।

५. पाञ्चाली रीति का गुणवर्णन

हम पहले कह आये हैं कि, दण्डी ने दो रीतियों (वैदर्भी एवं गौडी) की विस्तृत विवेचना अपने काव्यलक्षण में की थी। उसने उसमें उक्त दो से अधिक रीतियों का विचार नहीं किया था। वामन ही ऐसा आद्य प्राचीन ग्रन्थकार है जिसने उक्त दो रीतियों के अतिरिक्त पांचाली रीति की भी कल्पना की थी। उसने रीतियों की संख्या को तीन बतलाकर पांचाली में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुण रहते हैं ऐसा प्रतिपादित किया है। उसकी एतद्विषयक मूल उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

"सा त्रिधा-वैदर्भी गौडीया पाञ्चाली चेति ॥ ९ ॥' —सूत्र पृ० ४

"माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली" ॥१३॥

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पाञ्चाली नाम रीतिः। ओजः-कान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च।"—सूत्र पृ० ६

वामन की दृष्टि में पाञ्चाली रीति में मधुर एवं सुकुमार शब्दों का प्राचुर्य होता है। उसमें ओज एवं कान्ति गुणों का अभाव होता है, जिससे उसमें प्रयुक्त शब्द अनुत्कट एवं कान्तिरहित होते हैं। इसीलिए वह रीति गौड़ीया रीति के ठीक विपरीत होती है (कारण गौड़ीया रीति में माधुर्य एवं सौकुमार्य गुणों का अभाव होता है।) संक्षेप में पाञ्चाली रीति की कल्पना भारतीय काव्यशास्त्र को वामन की देन है।

६. काव्य में प्रीतिभाव की प्रधानता होती है।

वामन ने लोक, विद्या एवं प्रकीर्ण काव्यांगों के विवेचन के प्रसंग में ऐसा एक मार्मिक विचार व्यक्त किया है कि, कवि को व्याकरणकोशादि शास्त्रों के साथ-साथ कामशास्त्र का भी अध्ययन गम्भीरतापूर्वक करना चाहिए। क्योंकि काव्य के कथानक प्राय: प्रणयप्रधान होते हैं। वामनप्रणीत सूत्र इस प्रकार है—

'कामशास्त्रत: कामोपचारस्य" ॥८॥

संवित् इत्यनुवर्तते। कामोपचारस्य संवित् कामशास्त्रत इति। कामोपचारबहुलं हि वस्तु काव्यस्येति ॥"—सूत्र पृ० ९

संस्कृत-प्राकृतादि प्राचीन भाषाओं में विरचित काव्यों के विषयों का विचार करने पर वामनकृत उक्त उपदेश यथार्थ प्रतीत होता है। प्राचीन साहित्य में शृंगाररस की प्रचुरता है। प्राचीन कवियों की यह धारणा थी, शृंगाररस पवित्र, सुखद, पुष्टिवर्धक एवं भाग्य की वृद्धि करने वाला होता है। इसीलिए वामन के उक्त विचारों को स्वीकृत करते हुए डॉ० कृष्णम्माचारियर कहते हैं—Without a study of erotics, Sanskrit poetry cannot be appreciated"[२५]

७. गद्य काव्य के तीन भेद

वामन के पूर्ववर्ती आचार्योंने काव्य का विभाजन एवं वर्गीकरण करते समय भाषा, छन्द, विषय, रीति, आदि जिन अनेक तत्त्वों को मान्य किया था, उनमें छन्द एक तत्त्व अवश्य था। किन्तु, उनमें से किसी ने भी गद्य के भेद परिगणित नहीं किये थे। वामन ही आद्य प्राचीन ग्रंथकार है जिसने गद्य के वृत्तगन्धि, चूर्ण एवं उत्कलिकाप्राय भेदों का विवरण किया है। उसके निम्नलिखित सूत्रों से एतद्विषयक विचारों का परिचय होगा—

'पद्यभागवद्‌वृत्तगन्धिः ॥२३॥···अनाविद्धललितपदं चूर्णम् ॥२४॥··· विपरीतमुत्कलिकाप्रायम् ॥"—सूत्र पृ० १२

वामन के विचारों का आशय यह है कि, जो गद्य पद्य के अंशों से युक्त होता है वह वृत्तगन्धि कहलाता है, जिस गद्य में छोटे समासवाले एवं सुकुमार (ललित) शब्द होते हैं उसे चूर्ण कहते हैं और जिस गद्य में दीर्घ समासवाले एवं कठोर शब्द होते हैं उसे उत्कलिकाप्राय गद्य कहते हैं। वामन ने यहाँ पद्य का सद्भाव-अभाव, समासों की दीर्घता-लघुता एवं लालित्य का होना-न होना इन तीन निकषों के आधार पर गद्य के भेदों को परिगणित किया है। यद्यपि गद्य के भेद के कारण काव्य 'प्रकारत:' भिन्न नहीं माना जा सकता है और गद्य का 'चूर्ण' प्रकार वामनपूर्वकालिक भरतद्वारा प्रतिपादित था, तथापि उक्त तीन कसौटियों की कल्पना में ही वामन की प्रज्ञा की मौलिकता प्रतीत होती है।

८. काव्यदोषों के चार प्रकार होते हैं।

भरत से लेकर दण्डी तक के वामनपूर्ववर्ती आचार्यों ने काव्यदोषों का विचार अवश्य किया था। उन सभी विचारकों ने दोषों की त्याज्यता को सुविशद शब्दों में प्रदर्शित भी किया था। दोष गुण के ठीक विरुद्ध काव्यधर्म होते हैं और वे यदि काव्यसौन्दर्य का नाश करते हैं तो गुण काव्य के सौन्दर्य का सम्वर्धन करते हैं, यह तत्त्व भी सर्वमान्य था। किन्तु, उक्त आचार्यों में से किसी ने भी काव्यदोषों का वर्गीकरण नहीं किया था। काव्य में रहनेवाले दोष १ पदनिष्ठ, २ पदार्थनिष्ठ, ३ वाक्यनिष्ठ एवं ४ वाक्यार्थनिष्ठ इस प्रकार चतुर्विध होते हैं, ऐसा वर्गीकरण प्रस्तुत करनेवाला आद्य भारतीय काव्यचिन्तक वामन ही है। उसने प्रतिपादित किया है—

"एतान्पदपदार्थदोषान् ज्ञात्वा कविस्त्यजेदिति तात्पर्यार्थः ॥"-सूत्र पृ०२०
"एते वाक्यवाक्यार्थदोषास्त्यागाय ज्ञातव्याः ॥"—तत्रैव पृ० २९

वामन के एतद्विषयक विवेचन से उसकी बौद्धिक अनुशासनप्रियता का परिचय प्राप्त होता है।

९. गुण काव्यशोभासाधक एवं अलंकार काव्यशोभावर्धक

दण्डीने अपने काव्यलक्षण ग्रन्थ में काव्यगुणों का वर्णन विस्तार के साथ किया था। उसने श्लेषादि दस गुणों का सोदाहरण विवेचन किया था। किन्तु उसने गुणों एवं अलंकारों के अन्योन्य-सम्बन्ध की चर्चा नहीं की थी। उन दोनों के पार्थक्य एवं काव्यगत कार्य की कल्पनापूर्वक चर्चा करनेवाला आद्य काव्यशास्त्रकार वामन ही है। उसने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

"काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ॥ १ ॥
तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ॥ २ ॥"—'सूत्र पृ० २९

वामन का अभिप्राय यह है कि, गुण शब्दार्थ के धर्म होकर वे काव्य की शोभा को सम्पन्न करते हैं। ओजस्, प्रसाद, माधुर्य आदि काव्य के गुण हैं। यमक, उपमा आदि शब्दार्थालंकार काव्य के गुण नहीं हैं। क्योंकि वे (अलंकार) केवल अपनी शक्ति से काव्य में शोभा को उत्पन्न नहीं कर सकते। प्रसादादि गुण केवल अपने सामर्थ्य से काव्य-शोभासाधक होते हैं। उपमादि अलंकार गुणोत्पन्न शोभा की वृद्धि करने में कारण होते हैं। इसी लिए गुण स्थिर एवं अवश्यंभावि काव्यधर्म हैं तो अलंकार अस्थिर एवं अनवश्यंभावि धर्म हैं। वामन के शब्दों में गुण नित्य[३०] होकर अलंकार अनित्य होते हैं। वामनकृत इसी वर्गीकरण को प्रमाण मान कर परवर्ती आचार्यों ने अपने-अपने ग्रंथों में गुणालंकार-विवेक किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि, इस विषय के सन्दर्भ में वामन ही परवर्ती शास्त्रकारों के अनुप्रेरक है।

१०. काव्यार्थ के विविध प्रकार

वामन ने 'समाधि' नामक अर्थगुण के विवेचन में अर्थ के १ अयोनि एवं २ अन्यच्छायायोनि प्रमुख प्रकार माने हैं।[३१] उसकी दृष्टि से कवि के एकाग्रचित्त होने से उसे काव्यार्थ का दर्शन होता है, उसी को समाधि कहते हैं। काव्यार्थ द्विविध होता है—अयोनि एवं अन्यच्छायायोनि। जो अर्थ अन्यकारणनिरपेक्ष होता है उसे अयोनि कहते हैं (अर्थात् चित्त की एकाग्रता से प्रस्फुरित स्वतंत्र अर्थ) और जो अर्थ अन्यकारणसापेक्ष होता है उसे अन्यच्छायायोनि कहते हैं (अर्थात् ऐसे अर्थ पर अन्य कवियों के अर्थ की छाया होती है।) इसी काव्यार्थ के पुनः व्यक्त एवं सूक्ष्म इस प्रकार दो भेद होते हैं।[३२] उनमें से व्यक्त अर्थ स्वतःस्पष्ट होता है, किन्तु सूक्ष्म अर्थ के १ भाव्य एवं २ वासनीय[३३] ऐसे दो भेद होते हैं। जिस अर्थ का आकलन चित्तको किंचित् एकाग्र करने से होता है वह है भाव्य अर्थ और जिस अर्थ के ज्ञान के लिए चित्तकी दीर्घ एकाग्रता की आवश्यकता होती है, उसे वासनीय कहते हैं। वामन के इसी निरूपण ने उत्तरकालीन राजशेखरादि आचार्यों को इस विषय के विस्तृत विश्लेषण एवं विवेचन करने में प्रवृत्त किया। वामन का यह कार्य, इसी लिए, ऐतिहासिक महत्त्व का है।

११. काव्यों का पाकनिष्ठ वर्गीकरण

वामन ने ओजःप्रसादादि दस गुणों की सलक्षणोदाहरण विवेचना को पूर्ण करने के पश्चात् काव्यगत पाकों का विचार किया है। उसके मतानुसार जिस काव्य में प्रसादादि शब्दार्थगुण, पूर्णतया एवं स्पष्टतया अभिव्यक्त होते हैं, उस काव्यगत पाक को आम्रपाक कहते हैं, अर्थात् वह सत्काव्य होता है। जिस काव्य में शब्दगुणों का पाक होता है, किन्तु अर्थ क्लिष्ट होता है, उस काव्य का पाक 'वृन्ताक पाक' नाम से पहचाना जाता है, अर्थात् ऐसा काव्य कुकाव्य है। जिस काव्य में न तो कोई शब्दगुण रहते हैं, और न अर्थगुण, ऐसा काव्य अपार्थक होने से अकाव्य होता है।[३४] वामन के इन्हीं विचारों से प्रेरणा लेकर उत्तरकालीन राजशेखर ने नवविध काव्यवर्गीकरण को प्रतिपादित किया। अर्थात् इस मौलिक कल्पना का श्रेय वामन को ही है।

१२. उपमा अलंकार-प्रपंचका मूल

भरत से लेकर उद्‌भट तक के सभी वामन-पूर्वकालिक आचार्यों ने उपमा अलंकार की सुविस्तृत चर्चा की थी। किन्तु उनमें से किसी ने भी अर्थालंकारों का मूल उपमा अलंकार ही है, ऐसा प्रतिपादित नहीं किया था। इस प्रकार के विचार का प्रतिपादन करनेवाला आद्य भारतीय काव्यविमर्शक वामन ही है। उसकी यह स्पष्ट मान्यता है—

'सम्प्रत्यर्थालंकाराणां प्रस्तावः, तन्मूलं चोपमेति ।।" सूत्र पृ० ४८

'प्रतिवस्तु प्रभृतिर्यस्य स प्रतिवस्तुप्रभृतिः । उपमायाः प्रपञ्च उपमाप्रपञ्च इति ।"—तत्रैव पृ० ५६

वामन का दृढ़ मत है कि, सभी अलंकार उपमामूलक होते हैं । अर्थात् प्रतिवस्तूपमा, समासोक्ति, रूपक, आदि सभी अर्थालंकार औपम्यमूलक होते हैं । इसी लिए वामन ने उन अलंकारों को उपमा का प्रपञ्च बतलाया है । वामन की यह धारणा यद्यपि उत्तरकालीन विचारकों ने शिरोधार्य नहीं मानी, तथापि उसकी यह कल्पना सर्वथा उपेक्षणीय नहीं मानी जा सकती ।

अभी तक वामन के ग्रन्थ के विशेषों तथा उसके द्वारा प्रतिपादित अभिनव तत्त्वों का का परामर्श किया गया । इससे यह स्पष्ट होता है कि, वामन ने अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के ग्रन्थों का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन एवं मनन किया था, लक्ष्य ग्रन्थों का सम्यक् परिशीलन किया था और उस अध्ययन तथा परिशीलन पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन कर कुछ नवीन सिद्धान्तों का अन्वेषण भी किया था । इस सैद्धान्तिक विशेषता के कारण वामन का ग्रन्थ पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थों से श्रेष्ठ एवं उत्तरवर्ती आचार्यों के ग्रन्थों का प्रेरणास्रोत प्रतीत होता है । इसी लिए उसके इस ग्रन्थ को मौलिक एवं असाधारण मानना युक्तियुक्त तथा न्यायपूर्ण है इसमें सन्देह नहीं ।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास में उपलब्ध आद्य सूत्रात्मक ग्रंथ वामन का ही है । वामनोत्तर समय में रुय्यककृत अलङ्कारसर्वस्व, हेमचन्द्रप्रणीत काव्यानुशासन, वाग्भटविरचित काव्यानुशासन, शोभाकरमित्रकृत अलङ्काररत्नाकर आदि कतिपय सूत्रमय ग्रंथों का प्रणयन हुआ ।

२. द्रष्टव्य—'प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया ।'

पण्डितवरवामनविरचितानि **काव्यालंकारसूत्राणि** (अतःपर 'सूत्र' संकेत से निर्दिष्ट) स्ववृत्तिसमलंकृतानि, संशोधक नारायण राम आचार्य, निर्णय-सागर, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, १९५३, पृ० १

३. द्रष्टव्य—'काव्यालंकारसूत्राणां स्वेषां वृत्तिर्विधीयते' —सूत्र पृ० १

४. 'सुवाद्यता सुगानत्वं सुपाठ्यत्वं तथैव च ।
शास्त्रकर्मसमायोगः प्रयोग इति संज्ञितः ।। २७।१०१
भरतकृतं **नाट्यशास्त्रम्** श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यविरचितविवृतिसमेतम्, Vol III. (अतःपर नाट्य III. संकेत से निर्दिष्ट), संपा० एम्० रामकृष्ण कवि, बड़ोदा, १९५४

५. "एवमेते ह्यभिनया वाङ्नेपथ्याङ्गसम्भवाः ।
प्रयोगज्ञेन कर्तव्या नाटके सिद्धिमिच्छता ।।" नाट्य III २५।१२५

६ 'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः ।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः ।।"
कविराजराजशेखरविरचिता **काव्यमीमांसा** (अतःपर 'काव्यमी' संकेत से निर्दिष्ट) संपा० पं० मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४, पृ० २६

७. Dr. P. V. Kane, '*History of Sankrit Poetics*' Delhi, third revised edition, 1961 (अतःपर KSP संकेत से निर्दिष्ट), Part I, p 47.

८. द्रष्टव्य–"With the flourishing of Sanskrit learning and literature in the 4th and 5th centuries under the Gupta emperors, its development probably proceeded apace".

Dr. S. K. De, *History of Sanskrit Poetics*, (अतःपर DSP संकेत से निर्दिष्ट) Calcutta, complete revised edition, 1960, vol I, p. 12

९. KSP, Part I, p. 147.

१०. Dr. A. B. Ketih, '*A History of Sanskrit Literature*' (अतःपर KHSL संक्षेप से निर्दिष्ट) London, reprinted in 1953, p. 381

११. 'त एव उपमादोषाः सप्त मेधाविनोदिताः ।'–२।४०

भामह, **काव्यालंकार** (अतःपर 'भामह' संकेत से निर्दिष्ट), संपा० सी० शंकरराम शास्त्री, मद्रास, १९५६

१२. 'प्रहेलिका सा ह्युदिता रामशर्माच्युतोत्तरे ।।'–भामह २।१९

१३. 'पूर्वाचार्यैश्चिरन्तनैः काव्यलक्षणकारैः मेधाविश्यामदेवादि(प्रभृति)भिः प्रदर्शितम् ।' दण्डिकृतं **काव्यलक्षणम्** (अतःपर 'दण्डी' संकेत से निर्दिष्ट) रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया टीकया समलंकृतम्, संस्कर्ता-अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र उपाध्याय, दरभंगा, १९५७, पृ० ६७

१४ 'About 700-750 A.D.'--KSP, Part II, p. 427

१५. 'About 660-680 A. D.'—KSP, Part II, p. 420.

१६. 'In any case उद्भट flourished between 750 and 850 A. D.'-KSP, Part I, P. 138

१७. संस्कृत लक्ष्यग्रन्थ-मेघदूत, घटकर्परकुलक, उभयाभिसारिका, पद्मप्राभृतक, धूर्तविटसंवाद पादताडितक, भगवदज्जुक, मत्तविलास, हर्षचरित, भुवनाभ्युदय, मालती, वासवदत्ता, दशकुमारचरित, अवन्तिसुन्दरी, जातककथा, पंचतंत्र, चतुःशतिका, नीतिशतक, प्रतिमा, पंचरात्र, मालविकाग्निमित्र, शाकुन्तल, मृच्छकटिक, मुद्राराक्षस, रत्नावली, उत्तरराम-

चरित, रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपाल, कुमारसम्भव, और अनगिनत 'रसस्यन्दी' मुक्तक काव्य। प्राकृत लक्ष्यग्रन्थ-उपदेशमाला, तरंगवइकहा, वसुदेवहिण्डी, धुत्तक्खाण, गाहासत्तसई, पउमचरिय, सेतुबन्ध, गउड़वहो।

१८. मेधावी, रामशर्मा एवं श्यामदेव द्वारा प्रणीत लक्षणग्रंथ सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। भामह, दण्डी एवं उद्भट द्वारा रचित ग्रंथों के नाम क्रमशः काव्यालंकार, काव्यलक्षण एवं काव्यालंकारसारसंग्रह हैं।

१९. 'षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलंकृतिः।
पञ्चशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपञ्चकम्॥' भामह ६/६५-६६

२०. इसी लिए डॉ० दे साहब के "In Bhāmaha's Kāvyālankara, the different topics of Poetics are formulated not incidentally, as in Bharata, but in such 'well defined outline....." (DSP, Vol. II, p. 32) इस अभिप्राय में प्रयुक्त well defined शब्द समीचीन नहीं प्रतीत होते।

२१. 'मार्गविभाग' नामक प्रथम परिच्छेद की कारिकाएँ १०५ + 'अर्थालङ्कार' नामक द्वितीय परिच्छेद की कारिकाएँ ३६५ + 'दुष्कर' नामक तृतीय परिच्छेद की कारिकाएँ १८७ = कुल कारिकाएँ ६५७

२२. Dr. Bechan Jha, *Concept of Poetic Blemishes in Sanskrit Poetics*, Varanasi, First edition, 1965, p. 6

२३. भिक्षु गौरीशङ्कर, **सर्वतन्त्रसिद्धान्तपदार्थलक्षणसंग्रहः** (अतःपर 'संग्रह' संकेत से निर्दिष्ट), काशी, षष्ठ संस्करण, संवत् २००६, पृ. ५८

२४. भामह १/३१-३६

२५. दण्डी १/४०-१०२

२६. "In a word, a unifying central principle has first been posited by Vāmana in the history of Sanskrit poetics."-Dr. P. C. Lahiri, *Concepts of Rīti and Guṇa in Sanskrit Poetics*, Dacca, 1937, p. 89

२७. 'We have in him the emergence, however, of a new idea, that of the soul of poetry as opposed merely to the body," KHSL. p. 381.

२८. "—and whatever may be the value of his speculations, there can be no doubt that Vāmana was the first writer to enunciate a definite theory which, before the Dhvanikāra, must have had great influence on the study of Poetics."—DSP, vol. II, p. 76.

२९. Dr. M. Krishnamachariar, *History of Classical Sanskrit Literature*, Madras, 1937, p. 885

३०. द्रष्टव्य-' पूर्वे गुणा नित्याः । तैर्विना काव्यशोभानुपपत्तेः ।।"—सूत्र पृ. ३०

३१. "अर्थो द्विविधः अयोनिरन्यच्छायायोनिर्वा ।।-" सूत्र पृ. ३९

३२. 'अयोनिरन्यच्छायायोनिश्चेति योऽयमर्थः स द्वेधा-व्यक्तः सूक्ष्मश्च ।—" तत्रैव पृ. ४०

३३. 'सूक्ष्मो द्वेधा भवति-भाव्यो वासनीयश्च । शीघ्रनिरूपणागम्यो भाव्यः । एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति ।"—तत्रैव

३४. "गुणस्फुटत्वसाकल्यं काव्यपाकं प्रचक्षते ।
चूतस्य परिणामेन स चायमुपमीयते ।।
सुप्तिङ्संस्कारमात्रं यत्क्लिष्टवस्तुगुणं भवेत् ।
काव्यं वृन्ताकपाकं तज्जुगुप्सन्ते जनास्ततः ।।
गुणानां दर्शनान्मुक्तो यस्यार्थस्तदपार्थकम् ।
दाडिमानि दशेत्यादि न विचारक्षमं वचः ।।"—तत्रैव पृ. ४२

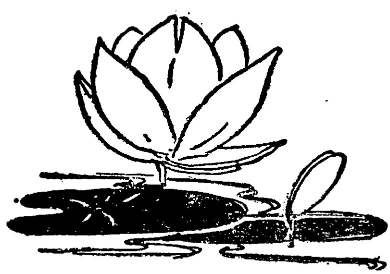

आचार्य भामह और साहित्य-समीक्षा के मूलतत्त्व

आदिकालीन काव्यमीमांसक :

भारतीय काव्यशास्त्र के आदिकाल में भामह नामक एक प्रमुख शास्त्रकार हुआ। उसके द्वारा विरचित 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रंथ संस्कृत साहित्यज्ञों को भलीभाँति विदित है। भामह के जीवन समय के विषय में पण्डितों में मतभेद दिखाई देता है। श्री नोबेल (Nobel), पं० बटुकनाथ शर्मा, पं० बलदेव उपाध्याय, डॉ० शंकरन्, प्राचार्य ध्रुव आदि विद्वानों के अनुसार भामह दण्डी से पहले हुआ है। प्रो० पाठक, म० म० डॉ० काणे आदि विद्वानों के मतानुसार दण्डी के बाद भामह हुआ है।[1] प्रस्तुत लेख का उद्देश्य भामह-प्रतिपादित साहित्य-समीक्षा के मूलभूत तत्त्वों का परामर्श करना है, न कि भामह-दण्डी के पौर्वापर्य के विषय में चर्चा करना। अतः डॉ० काणे[2] के द्वारा प्रतिपादित भामह के उत्कर्षकाल [ई० स० ७००-७५०] को सम्प्रति मान्य करते हुए लेखक अग्रिम विचार करने के लिए प्रयत्नशील है। भामह-प्रतिपादित अनेक तत्त्व पाश्चात्त्य साहित्यमर्मज्ञों के तत्त्वों से पर्याप्त समान प्रतीत होते हैं। उन्हीं का अब अध्ययन करेंगे।

कवि जन्म से ही होता है :

'Poets are born, they are not made'—कवि जन्म लेते हैं, बनाये नहीं जाते। पाश्चात्त्य साहित्यज्ञों ने इस तत्त्व का प्रतिपादन कई स्थानों पर किया है। काव्य-निर्माण करनेवाली प्रतिभा कवि में जन्म से होती है, वह परिश्रम से प्राप्त नहीं की जा सकती। अर्थात्, कवि की प्रतिभा एक प्राकृतिक देन है, मानो वह एक पूर्वजन्म का विशेष संस्कार है। भामह ने अपने ग्रंथ में इस तत्त्व का प्रतिपादन सुन्दर दृष्टान्तों के साथ इस प्रकार किया है—

"अधनस्येव दातृत्वं क्लीबस्येवास्त्रकौशलम्।
अज्ञस्येव प्रगल्भत्वमकवेः शास्त्रवेदनम्॥
विनयेन विना का श्रीः का निशा शशिना विना।
रहिता सत्कवित्वेन कीदृशी वाग्विदग्धता।
गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित्प्रतिभावतः॥"[3]

अर्थात्—'जो जन्म से कवि नहीं है उसका शास्त्रज्ञान निर्धन पुरुष के दातृत्व, षंढ़ के शास्त्रकौशल तथा अज्ञ के प्रगल्भत्व के समान निष्फल है। बिना विनय के सम्पत्ति

क्या ? बिना चन्द्रमा के रात क्या ? बिना सत्कवित्व के वाणी का वैदग्ध्य क्या ? मन्द-बुद्धि के व्यक्ति भी गुरूपदेश से शास्त्रों का अध्ययन कर सकते हैं। किन्तु काव्य तो प्रतिभा-शाली किसी व्यक्ति को ही प्रस्फुरित होता है और वह भी बारबार नहीं, तो कभी-कभी ही।'

उक्त पंक्तियों में भामह ने एकाधिक विचार-बिन्दुओं पर अच्छाखासा प्रकाश डाला है। पहली बात यह है कि, व्यक्ति का शास्त्रज्ञान तभी सफल होता है जब उस व्यक्ति में जन्म से ही कवित्वशक्ति होती है। दूसरी बात यह है कि, व्यक्ति के शास्त्रनैपुण्य की शोभा तभी वृद्धिगत होती है, जब वह जन्म से कवित्वशक्ति से सम्पन्न होता है। अर्थात्, काव्य का निर्माण एवं काव्य में सौन्दर्य का निर्माण ये दोनों बातें जन्मजात प्रतिभा पर निर्भर हैं। तीसरी विशेष बात यह है कि, शास्त्रों के रहस्यों का आकलन अध्ययन-साध्य है, किन्तु काव्य के रहस्यों का आकलन अध्ययन से साध्य न होकर नैसर्गिक प्रतिभा से ही सम्भव है। इसीलिए उत्तम काव्य का निर्माण कोई सामान्य व्यक्ति नहीं कर सकता, अपितु केवल प्रतिभावान् व्यक्ति ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त उत्तम काव्य बारबार निर्मित होनेवाली वस्तु न होकर क्वचित् निर्मित होनेवाली वस्तु होती है। अतः उत्तम काव्य दुर्लभ वस्तु है। भिन्न शब्दों में ऐसा कहा जा सकता है कि, जैसे धर्म का मर्म अत्यन्त सूक्ष्म होकर केवल अन्तःस्फूर्तिगम्य होता है वैसे काव्य का रहस्य भी सूक्ष्मतम अतएव अन्तःशक्तिगम्य होता है। इसलिए जब वह रहस्य कवि की उस अन्तःशक्ति की पकड़ में आता है, तभी सुन्दर एवं अभिराम काव्य का निर्माण होता है। किन्तु ऐसी स्थिति बारबार सम्भव नहीं है। इसीलिए अन्य स्थितियों में निर्मित काव्य सामान्य कोटि के होते हैं। आदर्श स्थिति में निर्मित काव्य ही असामान्य, सम्मान्य एवं चिरस्मरणीय होते हैं। ऐसे काव्यों की संख्या स्वाभाविकतया अत्यल्प होती है। भामह के इन विचारों में अनुभूत एवं सूक्ष्म सत्य निहित हैं।

निर्दोष काव्य का आदर्श

भामह के उपर्युद्धृत विचारों से यह भी स्पष्ट होता है कि, जैसी माँग, वैसी कविता वाला न्याय काव्य को लागू नहीं किया जा सकता। कारण इस पद्धति से रचित काव्य निर्जीव एवं सदोष होने की सम्भावना अधिक होती है। भामह का यह अचल आग्रह है कि, परिश्रमपूर्वक निर्मित काव्य यथासम्भव निर्दोष हो। उसके इस दृष्टिकोण का प्रतिबिम्ब हमें निम्नलिखित उक्तियों में मिलता है।

"सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुःसुतेनेव निन्द्यते॥
नाकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षान्मृतिमाहुर्मनीषिणः॥"[४]

अर्थात्—'कवि अपने काव्य में एक भी सदोष शब्द को प्रयुक्त न करे। कारण जैसे कुपुत्र के कारण उसके पिता की निन्दा होती है, वैसे ही कुकाव्य के कारण उसके निर्माता (कवि) की भी निन्दा होती है। सर्वथा कवित्वशक्तिहीन होने से अथवा कविता न करने से न तो अधर्म होता है, न रोग, अथवा न शासन। किन्तु, नैसर्गिकी निन्दनीय कवित्वशक्ति अथवा बुद्धिपुरस्सर निर्मित निन्द्य कविता को विचारशील पुरुष साक्षात् मरण करते हैं।'

ऊपर बताया गया है कि, सत्काव्य का निर्माण प्राकृतिक कवित्वशक्ति से क्वचित् होता है। अब भामह यह कहना चाहता है कि, सत्काव्यकारिणी प्राकृतिक कवित्वशक्ति न रहने से कोई अधर्माचरण, रोग या दण्ड नहीं होता है। कारण ऐसी शक्ति किसी भाग्यशाली पुरुष में ही होती है। स्वाभाविकतया जिस पुरुष में इस शक्ति का अभाव होता है, वह कविता के निर्माण का प्रयास ही नहीं करेगा। ऐसा पुरुष भी न कोई अधर्माचरण करता है, न उसे कोई व्याधि या शासन होता है। किन्तु, जिस किसी पुरुष में कवित्वशक्ति तो जन्म से अवश्य रहती है, किन्तु उस शक्ति का झुकाव अनुचित, ग्राम्य, अश्लील, अनीतियुक्त, असत्य आदि काव्य के निर्माण की ओर होता है, उस पुरुष की कविता कुकविता होकर उसकी दुष्कीर्ति का कारण होती है। अतः ऐसे पुरुष को चाहिए कि, एक तो वह काव्य के निर्माण का प्रयास ही कदापि न करे, या तो पूर्णतया सतर्क होकर उत्तम काव्य के निर्माण का प्रयास करे। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि, कविमें प्रकृतितः अच्छी कवित्वशक्ति होती है, किन्तु कवि असदुद्देश्यवश, कुसंगतिवश या और किसी कारणवश कुकविता का निर्माण करता है। ऐसी कुकविता भी निर्माता की अकीर्ति का कारण होती है। भामह के शब्दप्रयोग से ऐसा अनुमान होता है कि, उसकी दृष्टि में अबुद्धिपूर्वक निर्मित सदोष काव्य दुराचारी पुत्र के समान है। किन्तु, बुद्धिपूर्वक निर्मित सदोष काव्य मानो कवि की साक्षात् मृत्यु ही है। अर्थात्, विचारशील पुरुष ऐसे कुकवि की इतनी कठोर आलोचना करते हैं कि उसे मृत्युसदृश दुःख का अनुभव होता है। अथवा विचारशील पुरुष ऐसे कुकवि की कवित्वशक्ति को समाप्तप्राय मानते हैं। फलस्वरूप, ऐसे कुकवि को कविगोष्ठी में कोई स्थान नहीं मिलता है। संक्षेपमें, भामह ने अपने पाठकों के सम्मुख सत्कवित्व का उत्तुंग आदर्श ही प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त उसके एतद्विषयक विचारों में तर्काधिष्ठित सुसंवाद भी प्रतीत होता है। मानो उसने यह सूचित किया है कि, कवि चाहे सारस्वत हो, आभ्यासिक हो, या औपदेशिक हो,[१] उसे नित्य सौन्दर्यपूजक और केवल सौन्दर्यपूजक ही होना चाहिए।

चरित्रचित्रण में सुसंवाद

संस्कृत-प्राकृत कवियों की प्रदीर्घ रचनाओं को अपना लक्ष्य बनाकर भारतीय काव्यशास्त्रकारों ने अपने-अपने ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर विवेचन किया है। प्रदीर्घ

रचनाओं में व्यक्ति, प्रकृति, अन्य वस्तुजात आदि के विस्तृत एवं विपुल वर्णन पाये जाते हैं। ऐसे वर्णनों में कभी-कभी कवि की अन्यमनस्कता या अनवधान के कारण परस्पर-विसंगतियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। भामह का कहना है कि, कवि को चाहिए कि, वह सदा सतर्क एवं सन्नद्ध रहे और ऐसी विसंगतियों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करे। महाकाव्य के लक्षण के सन्दर्भ में उसने उपदेश किया है :—

"नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणं स्तवे॥"[६]

अर्थात्—'कुलशील, बलशौर्य, ज्ञानविज्ञान आदि नायकगत उदात्त गुणों के वर्णन द्वारा नायक को प्रथम प्रस्तुत कर तदनन्तर प्रतिनायक के उत्कर्ष को प्रदर्शित करने की इच्छा से उक्त नायक के वध का वर्णन नहीं करना चाहिए। यदि समस्त काव्य में उसकी व्यापकता वांछित न हो, या उसे अभ्युदय-भागी अर्थात् समृद्धिशाली प्रदर्शित न करना हो, तो आरम्भ में उसका वर्णन तथा स्तवन व्यर्थ होता है। नायक के गुणों का वर्णन पढ़कर पाठक उसकी ओर आकृष्ट होते हैं, उनके मनमें उसके प्रति सहानुभूति, प्रीति या आदरभाव उत्पन्न होता है। तथा वे मन ही मन समझने लगते हैं कि, एवं-गुणविशिष्ट नायक की ही अन्ततोगत्वा विजय होगी। इस प्रकार की सुसंगति की अपेक्षा पाठकगण सर्वदा रखते हैं। ऐसी स्थिति में यदि कवि प्रतिनायक के उत्कर्ष की कामना से उसके द्वारा नायक के वध का वर्णन करता है, तो पाठकगण को धक्का सा लगता है और उनकी अपेक्षा भग्न होती है। पाठक काव्य के नायक की सत्ता एवं महत्ता का, आदि से अन्त तक, अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में नायक सम्पूर्ण काव्य में व्यापक एवं सर्वश्रेष्ठ होता है। इसीलिए वे उसका गुण वर्णन अभीष्ट मानते हैं। उसके अभ्युदय-नाश के वर्णन से उसकी समग्र काव्यव्यापकता भंग होती है और उसका प्रारम्भिक गुणस्तवन व्यर्थ सिद्ध होता है। अर्थात्, काव्य के प्रारम्भिक एवं अन्तिम वर्णनों में विसंगति उत्पन्न होती है, जो काव्यगत एकरूपता की विनाशिका होने के कारण अवाञ्छनीय है। भामह के इन विचारों का तात्पर्य यह है कि, काव्यगत वर्णन, पात्रों के चरित्रों का चित्रण, उनके गुणों का स्तवन आदि सभी काव्याङ्गों में प्रारम्भ से अन्ततक सार्थकता, अनुकूलता एवं सुसंगति होनी चाहिए। इस प्रकार का काव्य ही पाठकों को विशुद्ध आनन्द प्रदान कर सकता है।

महाकाव्य की महनीयता

कुछ आधुनिक पण्डितों का यह दृढ़ मन्तव्य है कि, भारतीय काव्यशास्त्रकारों ने महाकाव्य का लक्षण करते समय केवल उसके बाह्यांग पर ही बल दिया है; महाकाव्य

लम्बाई में प्रदीर्घ होना चाहिए, इतना ही प्राचीन शास्त्रकार मानते थे, ऐसी आधुनिकों की कल्पना है। तथापि, भामहादि के लक्षण-ग्रंथों को गम्भीरता से पढ़ने पर यह कल्पना असत्य प्रतीत होती है। भारतीय काव्यलक्षणकारों के सम्मुख रघुवंश-किरातार्जुनीयादि काव्य लक्ष्य-ग्रंथ थे। वे ग्रंथ पद्यसंख्या की दृष्टि से सुदीर्घ थे। किन्तु केवल उनके सुदीर्घ होने से वे महाकाव्य कहलाने के योग्य थे, ऐसी बात नहीं है। काव्यलक्षणकारों ने महाकाव्य के बाह्यांग के समान अन्तरंग के प्रति भी अवश्य ध्यान दिया था। भामह ने महाकाव्य का लक्षण करते समय सर्वप्रथम कारिका में कहा है—'सर्गबन्धो महाकाव्यं महतां च महच्च यत् ।।"[७]—अर्थात्, 'सर्गबन्ध प्रकार के काव्य को ही महाकाव्य कहते हैं। वह महान् व्यक्तियों के चरित्रचित्रण से युक्त होकर आकार में बड़ा होता हैं।' भामह ने 'महतां' पद का प्रथम प्रयोग कर तत्पश्चात् 'महत्' पद का प्रयोग किया है, यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है। भामह यह सूचित करना चाहता है कि, चूँकि महाकाव्य आशय की दृष्टि से महान् होता है, अतः महान् काव्य कहलाता है। महाकाव्य का विषय सर्वसामान्य व्यक्ति का चरित्र न हो। उसकी कथावस्तु कर्णसदृश दानशूर, अर्जुनवत् पराक्रमी, पाण्डवों के समान धीरोद्धत अथवा राम के समान धीरोदात्त व्यक्ति के चरित्र पर आधृत होनी चाहिए। इन असामान्य व्यक्तियों के जीवन में रहने वाला उतना ही असामान्य एवं विराट् नाट्य पाठकों के मन पर अङ्कित होकर उन्हें अलौकिक, भव्य एवं असाधारण जीवनदर्शन की अनुभूति कराता है और ऐसा काव्य ही स्पृहणीय एवं रमणीय (अर्घ्य) प्रतीत होता है।

काव्य की श्रेष्ठता उसकी दीर्घता पर नहीं, अपितु आन्तरिक आशय पर अवलम्बित होती है, इस विचार को भामह ने अपने ग्रन्थ में अन्य स्थान पर भी प्रकट किया है। अपने ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद में अलंकारों का वर्णन करते हुए वह कहता है—

"विरुद्धपदमस्वर्थं बहुपूरणमाकुलम् ।
कुर्वन्ति काव्यमपरे व्यायताभीप्सया यथा ।।"[८]

अर्थात्—'(काव्यरचना को अनावश्यक रूप से) विस्तृत या दीर्घ बनाने की इच्छा रखने वाले (कुछ) और कवि होते हैं जिनके काव्य में परस्परविरुद्ध शब्द, असुन्दर अर्थ, पादपूरणार्थक शब्द एवं कठिनता आदि दोष रहते हैं।'

इससे यह स्पष्ट है कि, भामह को इस प्रकार की रचना अभीष्ट नहीं है। उसकी दृष्टि से काव्य की उपादेयता परस्परानुकूल शब्द, रमणीय अर्थ, पादपूर्तिपरक पदों का अभाव एवं सुबोधता इन गुणों पर निर्भर होती है, आकार पर नहीं। इस प्रकार भामह ने 'साहित्य की महत्ता' के विषय में निश्चित रूप से कुछ चिन्तन किया था जो उसके द्वारा अपने ग्रन्थ में बुद्धिपुरस्सर प्रदर्शित किया हुआ हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है।

काव्य आस्वाद का विषय है।

काव्य ज्ञान का विषय नहीं, अपि तु अनुभूति का विषय है। काव्य में रहनेवावाले सौन्दर्य का अनुभव करना होता है, रस की चर्वणा करनी होती है, आदि तत्त्वों के प्रति भामह की दृष्टि अवश्य पहुँची थी। इन तत्त्वों के आधार पर ही वह अपने ग्रंथ में 'काव्य प्रतीतिसुभग अवश्य होना चाहिए' इस आशय का प्रतिपादन बार-बार करता है। महाकाव्य के लक्षण के सन्दर्भ में उसने कहा है—

"पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत् ॥"[९]

अर्थात्—'महाकाव्य मुख, प्रतिमुख आदि पाँच सन्धियों से समन्वित, अनतिव्याख्येय तथा ऋद्धिपूर्ण होता है।'

इस कारिकार्ध में 'अनतिव्याख्येय' शब्द महत्त्व रखता है। भामह का अभिप्राय है की, महाकाव्य के आकलन के लिए दीर्घ, विस्तृत एवं विशाल टीका-टिप्पणियों की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। महाकाव्य का अर्थ यथासम्भव सुगम होना चाहिए, उसकी प्रतीति सत्वर होनी चाहिए। यही विचारांश उसके दोषनिरूपण में भी निम्नलिखित स्थान में मुखरित हुआ है:—

"अलङ्कारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम् ॥"[१०]

अर्थात्—'सालंकृत, ग्राम्यतारहित, अर्थयुक्त, न्यायसंगत एवं जटिलतारहित (गौड मार्ग भी अच्छा हैं)।' भामह अपने सम्पूर्ण ग्रन्थ में इस महत्त्वपूर्ण विचार को बारबार अभिव्यक्त करता है। उदाहरण के लिए, ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में प्रहेलिकाओं का विवेचन करते हुए वह कहता है—

"काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत् ।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥"[११]

अर्थात्—'यदि ये काव्य भी शास्त्र के समान टीकागम्य बन जाएँ तो केवल विद्वानों को ही (उनसे) आनन्द होगा, अविद्वान् बेचारे मारे जाएँगे।' भामह का आशय यह है कि, प्रहेलिकाएँ 'नानाधात्वर्थगम्भीर' होती हैं। उनका अर्थ करना दुष्कर होता है। इसी लिए इस प्रकार की प्रहेलिकाएँ शास्त्रग्रन्थों के समान होती हैं। शास्त्रग्रन्थ प्रायः दुर्बोध ही होते हैं,[१२] और इसी लिए मन्दमति व्यक्ति उनमें रुचि नहीं लेते हैं, वे शास्त्रों से डरते हैं। यदि प्रहेलिकारूप काव्य भी शास्त्रों के समान दुर्बोध हो जाएँ, तो अल्पज्ञ पाठक उनसे भी डरेंगे। उन काव्यों के अर्थों को समझने की शक्ति केवल बुद्धिमान् पाठकों में होती है, और ऐसे पाठक अल्प होकर सामान्य बुद्धि के पाठक ही अधिक होते हैं। फलस्वरूप, सामान्य पाठक इस प्रकार के काव्य रस से वञ्चित हो जाते हैं।

इसी विचार का प्रतिपादन निम्नोद्धृत कारिका में भी हुआ है :—

"अहृद्यमसुनिर्भेदं रसवत्त्वेऽप्यपेशलम् ।
काव्यं कपित्थमामं यत्केषाञ्चित्सदृशं यथा ॥"[१३]

अर्थात्—'कुछ कवियों का काव्य कैथ के फल के समान असुन्दर, दुर्भेद्य और रस युक्त होने पर भी अरमणीय होता है।'

भामह का अभिप्राय यह है कि, यदि कोई काव्य कपित्थ के समान कठिन तथा विश्लेषण की दृष्टि से दुःसह होता है, तो उसे सौन्दर्यहीन अर्थात् त्याज्य ही समझना चाहिए। भामह यह सूचित करना चाहता है कि, 'सिखाना' शास्त्र का कार्य है, तो 'मनोरंजन' करना काव्य का कार्य है। शास्त्र शास्त्रज्ञ की बुद्धि से प्रेरित होकर जिज्ञासु की बुद्धि को आहूत करता है। काव्य कवि के मन से उत्स्फूर्त होकर रसिक के मन को आल्हादित करता है। शास्त्र बौद्धिक होने से कुछ कठिन होकर व्याख्याओं की अपेक्षा रखता है। काव्य मानसिक होने से प्रतीतिसुभग होता है। भामह की इस विचारधारा में हमें De Quincey का Literature of Knowledge & literature of power, शब्दों में वर्णित द्विकोटिक वर्गीकरण प्राप्त होता है।

काव्य की परीक्षा काव्यगुणों की कसौटी से ही हो।

भामह काव्य के विषय में शुद्ध काव्यदृष्टि से चिन्तन एवं विवेचन करता है। इस तथ्य का और एक प्रमाण प्रस्तुत किया जा सकता है। दण्डी ने अपने 'काव्यलक्षण'[१४] नामक ग्रन्थ में गौड़ एवं वैदर्भ मार्गों का सविस्तर विवेचन किया है।[१५] किन्तु दण्डी-पूर्ववर्ती भामह के समय में ही 'यह वैदर्भ काव्य,' 'यह गौड़ीय काव्य' इस प्रकार की परिभाषा एवं परिगणना प्रचलित हुई थी, ऐसा अनुमान निम्नोद्धृत पंक्तियों से होता है—

"वैदर्भमन्यदस्तीति मन्यन्ते सुधियोऽपरे ।
तदेव च किल ज्यायः सदर्थमपि नापरम् ॥
गौडीयमिदमेतत्तु वैदर्भमिति किं पृथक् ।
गतानुगतिकन्यायान्नानाख्येयममेधसाम् ॥
ननु चाश्मकवंशादि वैदर्भमिति कथ्यते ।
कामं तथास्तु प्रायेण संज्ञेच्छातो विधीयते ॥"[१६]

अर्थात्—'दूसरे बुद्धिमान् लोगों का मत है कि, वैदर्भ नामक अन्य काव्यभेद है और वही वास्तविक तथा श्रेष्ठ है। दूसरा (काव्यभेद) अर्थसुन्दर होने पर भी श्रेष्ठ नहीं है। यह गौड़ीय है, तो यह वैदर्भ है, ऐसा पार्थक्य क्या है? गतानुगतिकता के कारण बुद्धि-हीन ऐसा अवश्य कह सकते हैं। किन्तु 'अश्मकवंश' आदि काव्य को वैदर्भ काव्य कहते हैं, तो ठीक है, कहलाया करें। नाम तो प्रायः इच्छाप्रसूत होते हैं।'

भामह ने उक्त वचनों के द्वारा अनेक बातों पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि, छन्द, भाषा, विषय, स्वरूपविधान, आदि के अतिरिक्त रीति, काव्यभेदों की संख्या करने का, एक निकष माना जाता था। और बुद्धिमान् रसिक वैदर्भ शैली में लिखित काव्य गौड़ी शैली में लिखित काव्य की अपेक्षा सरसतर मानते थे। इतना ही नहीं, गौड़ीय काव्य अर्थसुन्दर होने पर भी उसे वैदर्भ काव्य से कनिष्ठ ही समझते थे। कुछ बुद्धिमान् विचारक काव्य के सरस अर्थ की अपेक्षा काव्य की शैली को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। उनका यह विचार भामह को अमान्य था। उसकी दृष्टि से काव्य में रमणीय अर्थ महत्त्व रखता है, शैली नहीं। भामह की दूसरी धारणा यह है कि, शैली काव्य का व्यवच्छेदक वैशिष्ट्य नहीं माना जा सकता। उसकी दृष्टि से काव्य चाहे गौड़ी शैली में हो, या वैदर्भी शैली में, मूलतः काव्य है। अर्थात् काव्यत्व की दृष्टि से दोनों में कोई अन्तर नहीं है। ऐसा अन्तर केवल अल्प बुद्धि लोग गतानुगतिकता के कारण मानते हैं, किन्तु ऐसा करना अर्थात् युक्तियुक्त अर्थात् समीचीन नहीं है। इस प्रकार की संज्ञाओं का प्रयोग केवल स्वेच्छा से होता है, तर्क से नहीं। अतएव ऐसा ऐच्छिक संज्ञाप्रयोग त्याज्य है। अर्थात् शैली को काव्यगत सौन्दर्य की परीक्षा की कसौटी मानना शुद्ध स्वेच्छाचार है। काव्यसौन्दर्य की परख सुन्दर काव्यार्थ के निकष से ही करनी चाहिए। तात्पर्य, काव्य के क्षेत्र में काव्यसौन्दर्येतर समीक्षामूल्य सर्वथा वर्जित है। भामह का यह स्वस्थ दृष्टिकोण निस्संदेह सम्मान्य एवं अभिनंदनीय है।

वक्रोक्ति की व्यापकता

अंग्रेजी में एक प्रसिद्ध उक्ति है, 'Straight is the line of duty, curved is the line of beauty'। चन्द्रमा, सूर्य, सितारे, वृक्षों के पत्ते, सरोवर आदि सभी वस्तुएँ वृत्ताकार होती हैं, जिससे वे रसिकों को लुभाती हैं। यदि वे सीधी, चौकोर होती तो उनकी सुन्दरता नष्ट हो गई होती। अर्थात् प्रकृतिनिर्मित एवं मानवनिर्मित सभी सुन्दर वस्तुएँ वक्राकार अर्थात् सरल आकार से भिन्न होने के कारण ही चित्ताकर्षक होती हैं। काव्यगत शब्दों को भी यही नियम लागू होता है। वैसे देखा जाए तो कवि जिन शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में करता है, वे शब्द सहृदय पाठकों की भाषा में प्रयुक्त होने वाले ही होते हैं। (यदि वे वैसे न होते तो काव्य अनाकलनीय हो गया होता) फिर भी उन शब्दों को कवि-प्रतिभा के स्पर्श से वक्रत्व या सौन्दर्य प्राप्त होने के कारण वे रसिकों के मन को आकृष्ट कर उन्हें उत्कट आनन्द प्रदान करते हैं। संक्षेप में, काव्यगत शब्द एवं अर्थ वक्र, असाधारण, अलौकिक, चमत्कारजनक अथवा सहृदयहृदयाह्लादक अवश्य होते हैं। शब्दार्थों तथा समस्त तद्घटकों की वक्रता आह्लादकारक काव्य का अनिवार्य अंग है। यह समीक्षातत्त्व भामह को अभिसम्मत था। काव्व में वक्रोक्ति का होना अपरिहार्य है, इस तत्त्व का प्रतिपादन भामह ने अपने ग्रन्थ में अनेक बार किया है। अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद में ही उसने लिखा है—

'अपुष्टार्थमवक्रोक्ति प्रसन्नमृजु कोमलम् ।
भिन्नं गेयमिवेदं तु केवलं श्रुतिपेशलम् ॥''[१७]

अर्थात्—'अर्थपरिपोष तथा वक्रोक्ति से रहित, प्रसन्न, सरल, कोमल (वैदर्भ काव्य) सच्चे काव्य से भिन्न संगीत के समान, केवल श्रुतिमधुर होता है।' अर्थात् काव्य में अर्थपरिपोष के अतिरिक्त वक्रोक्ति का होना अपरिहार्य है। भामह की दृष्टि से सर्गबद्ध महाकाव्य, अभिनेयार्थ नाटक, आख्यायिकाएँ तथा मुक्तक आदि सभी रचनाएँ वक्र स्वरूप के वचनों के कारण ही प्रशंसनीय एवं अभीष्ट होती है—

''अनिबद्धं पुनर्गाथा श्लोकमात्रादि तत्पुनः ।
युक्त वक्रस्वभावोक्त्या सर्वमेवैतदिष्यते ॥''[१८]

इसी सन्दर्भ में भामह ने और ऐसा कहा है कि, केवल गौड़ पद्धति या वैदर्भ पद्धति से निर्मित काव्य में भाषा की सुन्दरता आविष्कृत नहीं होती है, अपितु वक्र स्वरूप की शब्दयोजना ही भाषा को अलंकृत अथवा सुन्दर करने में सक्षम होती है और इसीलिए वह अभीष्ट है। भामह की मूल उक्ति इस प्रकार है—

''न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम् ।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलङ्कृतिः॥''[१९]

भामह ने अपनी वक्रोक्तिविषयक विचारधारा को समस्त ग्रंथ में स्थिर रखा है। अपने ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद में उसने निम्नोद्धृत कारिका लिखी है—

''सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥''[२०]

अर्थात्—'वह प्रसिद्ध वक्रोक्ति ही काव्य में सब कुछ होती है। उसी के कारण काव्यगत शब्दों के अर्थ विशेष रूप से प्रतीत होते हैं। वक्रोक्ति की सिद्धि में कवि प्रयत्नशील हो। ऐसा कौन-सा अलंकार है जिसमें वक्रोक्ति नहीं होती ?'

वक्रोक्ति काव्य का सर्वस्व होती है, वही काव्यार्थ-विभावक है और काव्य की शोभा को बढ़ानेवाले अलंकारों में विद्यमान होती है। संक्षेप में, भामह की दृष्टि से वक्रोक्ति समस्त काव्यव्यापिनी है। स्वाभाविकतया वह हेतु, सूक्ष्म एवं लेश, जिनमें वक्रोक्ति बिल्कुल नहीं रहती है, अलंकार की प्रतिष्ठा को अस्वीकृत करता है। इस सन्दर्भ में उसका कहना है—

''हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालङ्कारतया मतः ।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥
गतोऽस्तमर्को भातीन्दुर्यान्ति वासाय पक्षिणः ।
इत्येवमादि किं काव्यं वार्तामेनां प्रचक्षते ॥''[२१]

अर्थात्—'मैं हेतु, सूक्ष्म, तथा लेश को अलङ्कार नहीं मानता, कारण वे समुदायार्थक अलङ्कार होकर उनमें वक्रोक्ति नहीं रहती है। सूर्य अस्त हो गया, चन्द्रमा चमक रहा है, पक्षी घोंसलों में जा रहे हैं। क्या ऐसी उक्तियाँ काव्य हैं ? इनको तो वृत्त-वार्ता कहते हैं।'

भामह का अचल सिद्धान्त है कि, जहाँ वक्रोक्ति है, वहीं काव्य है, जहाँ वक्रोक्ति नहीं, वह काव्य नहीं। इस सैद्धान्तिक भूमिका पर अड़िग रहते हुए वह अन्यत्र कहता है—

"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ॥"[२२]

अर्थात्—'वक्र अर्थात् अनन्यसाधारण, विलक्षण, सहृदयहृदयहारी अथवा चमत्कृतिपूर्ण अर्थ की शब्दरचना काव्य का भूषण है।' इसी विचार को उसने अपने ग्रंथ के षष्ठ परिच्छेद में फिर एक बार दोहराया है—

"वक्रवाचां कवीनां ये प्रयोगं प्रति साधवः।
प्रयोक्तुं ये न युक्ताश्च तद्विवेकोऽयमुच्यते ॥"[२३]

अर्थात्—'जो शब्द वक्रवाक् कवियों के प्रयोग के योग्य हैं और जो प्रयोग करने के योग्य नहीं हैं, उनका विवेचन यहाँ किया जा रहा है।'

यहाँ तो भामह ने कहा है कि, कवि की वाणी ही वक्र अर्थात् लोकातीत, विदग्ध वा चमत्कृतिजनक होती है। सारांश में हम यह कह सकते हैं कि, भामह इस सिद्धान्त का पुरस्कर्ता था कि, काव्यगत शब्द, अर्थ, कल्पनाएँ, रचनाएँ आदि सभी आदि से अन्त तक अंग वक्रतापूर्ण होते हैं। क्षेमेन्द्र भी यही कहता है—

"नहि वक्रोक्तिविरहितस्य कवेः कवित्वं, काव्यस्य वा काव्यत्वम् ॥"[२४]

साहित्य की व्यापकता :

आजकल के साहित्यशास्त्रकार का यह प्रिय अभिमत है कि, साहित्य में अभिव्यक्त होनेवाली अनुभूतियों का क्षेत्र इतना व्यापक होता है कि, वह समग्र जीवन को स्पर्शित करता है। कविता, कथा, उपन्यास, नाटक इत्यादि साहित्य की विविध विधाएँ किसी भी विषय को वर्जित नहीं मानती या किसी भी अनुभूति को निषिद्ध नहीं समझती। वर्तमानकालीन दृष्टिकोण यह है कि, जीवन की प्रत्येक अनुभूति साहित्य का विषय बन सकती है। यह आश्चर्य की बात है कि, संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं में निर्मित साहित्य की तत्त्वचर्चा करनेवाले अष्टम शती के भामह ने उक्त आधुनिक विचार को निम्नोद्धृत पद्य में प्रकट किया है—

"न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
जायते यन्न काव्याङ्गमहो भारो महान्कवेः ॥"[२५]

अर्थात्—'वह शब्द नहीं, वह अर्थ नहीं, वह न्याय नहीं, वह कला नहीं, जो काव्य का अंग न बनती हो (इसीलिए) कवि का दायित्व बहुत बड़ा होता है।' व्याकरणादि शास्त्रों से लेकर चौंसठ कलाओं तक कोई भी विषय काव्यरूप हो सकता है। काव्य का विषयक्षेत्र, इस प्रकार, बड़ा ही विशाल है। चूँकि जीवन में कोई भी अनुभव साहित्य के लिए त्याज्य नहीं है, इस लिए साहित्य का निर्माण करनेवाले प्रतिभाशाली व्यक्ति पर बड़ी जिम्मेदारी होती है। कारण, जीवनगत विविध अनुभूतियों में रहनेवाली 'वक्रता' को भलीभाँति समझ कर उसका सुन्दर वर्णन साहित्यकार को करना पड़ता है। उसकी दृष्टि जितनी सूक्ष्म, सौन्दर्यग्राहिणी एवं मार्मिक होती है उतना ही उसका साहित्य रमणीय एवं सौन्दर्यसम्पन्न होता है। भामह के इन विचारों की अत्याधुनिकता को देखकर बड़ा आश्चर्य होता है।

साहित्यगत अनुभूति

इसी सन्दर्भ में साहित्यगत अनुभूति के विषय में भामह द्वारा प्रतिपादित विचारों को समझ लेना उद्बोधक होगा। साहित्यगत अनुभूति साहित्यकार की अपनी होनी चाहिए, चाहे वह प्रत्यक्ष हो, परोक्ष हो अथवा कल्पित हो। वह और किसी की नहीं होनी चाहिए। कारण जब साहित्य में वर्णित अनुभूति साहित्यकार की निजी अनुभूति होती है, और जब वह अनुभूति उसके मनःकोष से उत्स्फूर्त होती है, तभी साहित्यकार उस अनुभूति से एकरूप या समरस हो सकता है और अपने पाठकों को भी उस अनुभूति से समरस बना सकता है। जब मूल अनुभूति ही परायी रहती है तब साहित्यकार उसकी अभिव्यक्ति में समरसता का अनुभव नहीं कर सकता। और इस प्रकार की अस्फुट, अपक्व अथवा अल्पाभिव्यक्त अनुभूति रसिक पाठकों के हृदय को कदापि नहीं स्पर्श कर सकती। यह विचार भामह के निम्नोद्धृत पद्य में बड़ी सुन्दरता के साथ प्रकट हुआ है—

"परप्रत्ययतो यत्तु क्रियते तेन का रतिः।
नान्यप्रत्ययशब्दा वागाविभाति मुदे सताम्।
परेण धृतमुक्तेव सरसा कुसुमावली॥"[२६]

अर्थात्—'दूसरे के प्रयोग को प्रामाणिक मानकर जो रचना की जाती है उससे क्या सन्तोष होगा ? जिसके शब्द दूसरे के प्रामाण्य पर निर्भर हों वैसी वाणी, दूसरे के द्वारा धारण कर उतार दी गयी सुन्दर पुष्पमाला के समान, विद्वानों को प्रसन्न नहीं कर सकती।'

भामह मानो यह सूचित करना चाहता है कि, परानुभूति पर आधृत काव्य उच्छिष्ट अन्न ग्रहण के समान है। इस विचार को दृढ़ करने हेतु उसने और यह कहा है—

"मुखारतावदयं न्यायो यत्स्वशक्त्या प्रवर्तते।
अन्यसारस्वता नाम सन्त्यन्योक्तानुवादिनः॥"[२७]

अर्थात्—'मुख्य पक्ष यही है कि, कोई अपनी ही शक्ति से काव्यनिर्माण में प्रवृत्त हो। दूसरे के ज्ञान का उपयोग करनेवाले साहित्यकार दूसरे के कथन का अनुवाद मात्र करते हैं।'

भामह यहाँ यह सूचित करना चाहता है कि, जो काव्य कवि की स्वतः की प्रतिभा-शक्ति से निर्माण होता है वही वास्तविक काव्य होकर जो परानुभूति की भिक्षा माँगकर निर्माण किया जाता है वह मानो 'वाक्य' होता है। कारण असली काव्य सदा कवि के निजी प्रयास से तथा निजी अनुभूतियों से उत्पन्न होता है। जो कवि दूसरों के शब्दों, अर्थों, विचारों अथवा अनुभवों का अनुवाद मात्र करते हैं, वे अन्य अर्थात् सामान्य साहित्यकार हैं। जो कवि अपनी ही अनुभूतियों को प्रमाण मानकर काव्य का निर्माण करते हैं, वे अनन्य अर्थात् असामान्य सम्मान्य साहित्यकार हैं। भामह की यह भूमिका बहुत ही प्रशंसनीय है।

साहित्य में शब्दविवेक

मनुष्य दैनिक व्यवहार में अपने मनोभावों को दूसरों से शब्दों के द्वारा कहता है। कवि भी अपना अभिप्राय शब्दों के द्वारा ही प्रकट करता है। किन्तु, कवि की भाषाशैली दैनिक व्यावहारिक भाषाशैली से भिन्न होती है। दैनिक वाग्व्यवहार में मनुष्य शब्दों की व्याकरणशुद्धि, सन्तुलित स्थिति या सुष्ठुता के प्रति शायद ही ध्यान देता है। वह अपने मनोभावों को सरल एवं सामान्य भाषा में ही अभिव्यक्त करता है। वह शब्दों का न चयन करता है, न दैनिक वाग्व्यवहार में शब्द-विवेक करने की आवश्यकता ही समझता है। कारण मनुष्य जिन अर्थों या भावों को अभिव्यक्त करना चाहता है, वे बिल्कुल सामान्य एवं नीरस होते हैं। तथापि, कवि भाषा की कुशलता की उपेक्षा नहीं कर सकता। उसके दो कारण हैं, एक तो यह कि, कवि जिन अर्थों या भावों को व्यक्त करना चाहता है वे वक्र, चमत्कृतिपूर्ण एवं आह्लाददायक होते हैं। अर्थात् वे दैनंदिन वाग्व्यवहार-गत अर्थों या भावों की अपेक्षा स्वरूपतः सविशेष होते हैं, और दूसरा कारण यह है कि, कवि उन विशिष्ट भावों का न केवल निवेदन करना चाहता है, किन्तु उन्हें सहृदयों के हृदयों में संक्रमित कर तदनुकूल प्रतिक्रियाओं को भी प्रस्फुरित करना चाहता है। इस भाव-जागृति की सिद्धि के लिए कवि को शब्दरूप माध्यम को बड़ी सावधानी से तथा विवेचकता एवं सदभिरुचि के साथ प्रयोग में लाना पड़ता है। अर्थात् उसे शब्दों का कलापरिपोषक चयन अनिवार्य रूप से करना पड़ता है। यह विचार भामह को भी भली-भाँति प्रतीत हुआ था, यह बात उसकी निम्नोद्धृत उक्ति से प्रमाणित होती है—

"एतद्ग्राह्यं सुरभि कुसुमं ग्राम्यमेतन्निधेयं
धत्ते शोभां विरचितमिदं स्थानमस्यैतदस्य।
मालाकारो रचयति यथा साधु विज्ञाय मालां
योज्यं काव्येष्ववहितधिया तद्वदेवाभिधानम् ॥"[२८]

अर्थात्—'यह सुगन्धित फूल ग्रहण करने (अर्थात् माला में गूँथ ने) योग्य है, यह अशोभनीय होने से त्याज्य है, इसे गूँथनेपर सुन्दरता का परिपोष होगा, इस फूल का यही स्थान योग्य है और इस दूसरे फूल का यह। इस तरह फूलों की अच्छी तरह पहचान कर जैसे माली माला गूँथने के लिए पुष्पचयन करता है, उसी प्रकार कवि को सावधानी से काव्यों में शब्दों का चयन करना चाहिए।' तात्पर्य, जिस प्रकार माली माला बनाते समय विविध फूलों की उचितानुचितता या सुन्दरता-असुन्दरता का पूर्णतया विचार कर उन्हें माला में गूँथता है, उसी प्रकार कविको भी काव्य में शब्दरूप फूलों की योजना करते समय उनकी रसपरिपोषकता, पात्रानुरूपता, प्रसङ्गोचितता आदि सभी काव्याङ्गों का सम्यक् विवेक कर काव्यरूप माला को ग्रथित करना चाहिए। भामह को 'शब्दविवेक' का जो तत्त्व यहाँ अभिप्रेत है वह आधुनिक पाश्चात्त्य साहित्य कोविदों के अभिमत **'artistic selection of words'** तत्त्व से भिन्न नहीं है।

अलंकारों के विषय में यथार्थवादी विचारधारा

काव्यगत शब्दार्थालंकारों के विषय में भामह की विचारधारा अत्यन्त यथार्थ, सन्तुलित एवं विवेकपूर्ण है, जिससे उसकी उच्च साहित्याभिरुचि का भलीभाँति परिचय प्राप्त होता है। उसने निम्नोद्धृत निःसंदिग्ध शब्दों में कहा है कि, शब्द तथा अर्थ के अलंकारों के बिना काव्य में शोभा नहीं है—

'न कान्तमपि निर्भूषं विभाति वनितामुखम् ॥"[२९]

इतना ही नहीं, किन्तु वाणी के शब्द एवं अर्थ के अलंकार अभीष्ट हैं, यह बात उसने स्पष्ट शब्दों में कही है—

'शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्टं द्वयं तु नः ॥"[३०]

तथापि, चूँकि ये सभी अलंकार पूर्वसूरिद्वारा प्रतिपादित हैं, इस लिए सभी अलंकार भामह को अभिमत हैं, ऐसी बात नहीं। ऊपर एक स्थान पर हमने यह स्पष्ट किया ही है कि, भामह को हेतु, सूक्ष्म एवं लेश अलंकार सम्मत नहीं हैं, कारण वे तीनों समुदायार्थवाचक होने से वक्रोक्तिरहित हैं। उसकी एतद्विषयक विचारधारा से उसकी स्वतन्त्र प्रज्ञा का परिचय मिलता है।

अलंकारों के विषय में भामह न केवल गतानुगतिक नहीं है, न केवल अतिरेकप्रिय ही। उसकी भूमिका में सन्तुलन है। उपमा के निरूपण के प्रसङ्ग में उसने कहा है कि, सर्वथा एवं सभी दृष्टियों से समरूप दो वस्तुएँ शायद ही दिखाई देंगी। किं बहुना ऐसी दो वस्तुएँ प्रायः अप्राप्य ही होती हैं। विद्वान् कवि लोग दो वस्तुओं में रहने वाले अधिकाधिक साम्य को ध्यान में रखकर ही उनकी तुलना कर उपमा अलंकार की सिद्धि करते हैं। उसकी एतद्विषयक मूल उक्ति है—

"सर्वं सर्वेण सारूप्यं नास्ति भावस्य कस्यचित् ।
यथोपपत्ति कृतिभिरुपमासु प्रयुज्यते ॥"[३१]

इसी विचार को उसने अपने ग्रन्थ के द्वितीय परिच्छेद की साठवीं कारिका में इस प्रकार दोहराया है—

'न सर्वसारूप्यमितिविस्तरेणोदितो विधिः ॥'

इसमें प्रतीत होनेवाली उसकी यथार्थवादी विचारधारा ही उसके निम्नोद्धृत वचनों में प्रतिबिम्बित हुई है—

"आधिक्यमुपमानानां न्याय्यं नाधिकता भवेत् ।
... .
एतेनैवोपमानेन ननु सादृश्यमुच्यते ।
उक्तार्थस्य प्रयोगो हि गुरुमर्थं न पुष्यति ॥"[३२]

भामह का अभिप्राय यह है कि, यह तो बिल्कुल न्याय्य ही है कि, उपमान उपमेय से अधिक गुणाढ्य वा श्रेष्ठ होता है । कारण यदि वैसा न हो तो, उपमा अलंकार की सिद्धि कैसे होगी ? केवल उपमेय के वचन से सुन्दरतापूर्ण आशय की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। सौन्दर्य एवं महान् अर्थ का परिपोष उपमेय तथा उपमान की परस्पर-सहकारिता वा सहस्थिति के कारण होता है । भामह की यह सूक्ष्म विवेचकता निम्नलिखित पंक्तियों में भी प्रतीत होती है—

"गिरामलङ्कारविधिः सविस्तरः
स्वयं विनिश्चित्य धिया मयोदितः ।
अनेन वागर्थविदामलङ्कृता
विभाति नारीव विदग्धमण्डना ॥"[३३]

अर्थात्, 'मैंने स्वयं अपनी बुद्धि से सुनिश्चित करके वाणी के अलंकार-प्रपंच का यह सविस्तर वर्णन किया है । इससे शब्दार्थवेत्ताओं की वाणी, आभूषणों से परिमण्डित नारी के समान, सुशोभित होती है ।'

इस पद्य में भामह द्वारा प्रयुक्त 'विदग्ध' शब्द साभिप्राय है । वह शब्द यह सूचित करता है कि, भामह को काव्य में सामान्य अलंकार मान्य नहीं हैं । उसे चातुर्यपूर्ण, रसिक-हृदयाह्लादक कतिपय मोहक अलंकार मात्र अभीष्ट हैं। भामह ने विदग्ध शब्द का प्रयोग कर इस तथ्य की ओर इशारा किया है कि काव्यगत सालंकृत वाणी रसपात्रप्रसंगानुरूप, यथार्थ, रुचिर एवं औचित्यपूर्ण होनी चाहिए ।

काव्य एवं शास्त्र में साम्यभेद

काव्य के अंगोपांगों का इतने वैज्ञानिक तथा सूक्ष्म ढंग से परामर्श करने वाला भामह साहित्य एवं शास्त्र के अन्योन्यसम्बन्ध का भी तर्कपूर्ण विवेचन करता है। यह बड़े हर्ष का विषय है कि, भामह का एतद्विषयक चिन्तन स्पष्ट एवं अभ्रान्त अतएव प्रशंसनीय है। उसी का परिशीलन कर इस लेख को पूर्ण करना है।

साहित्य एवं तर्कदृष्टि के विषय में अंग्रेजी में प्रचुर चिन्तन एवं लेखन हुआ है। भामह की सूक्ष्म दृष्टि इस विषय तक अवश्य पहुँची है। उसका यह प्रतिपादन है कि, व्यवहारगत तर्कदृष्टि काव्यगत तर्कदृष्टि से भिन्न है—

"अपरं वक्ष्यते न्यायलक्षणं काव्यसंश्रयम्।
इदन्तु शास्त्रगर्भेषु काव्येष्वभिहितं यथा ॥"[३४]

शास्त्रगर्भ काव्य में इस तर्कदृष्टि के प्रति ध्यान देना पड़ता है। उदाहरण के लिए, लौकिक जीवन में ऐसा माना जाता है कि, कारण शाश्वत होकर परिणाम से अविभाज्यतया संलग्न होता है। कवि लोग काव्यों में भी कार्यकारणों का वर्णन अवश्य करते हैं। किन्तु, काव्यगत वह वर्णन लोकव्यवहारगत अनुभव से भिन्न होता है।[३५] कारण काव्य लोकानुभव तथा लोकव्यवहार पर आधृत होता है। इसके विपरीत, शास्त्र में सत्य का निरूपण होता है। शास्त्र तत्त्वानुलक्षी एवं सत्यपरामर्शी होते हैं—

"तत्र लोकाश्रयं काव्यं आगमास्तत्त्वदर्शिनः ॥"[३६]

आकाश तलवार के समान काले रंग का है, नदियों का जल सदा वही रहता है, आदि वर्णन केवल काव्यों में ही शोभादायक होते हैं, शास्त्रों में प्रामादिक माने जाते हैं। इसी लिए ऐसा कहना पड़ता है कि, काव्यगत सत्य एक वस्तु है, शास्त्रगत सत्य दूसरी वस्तु है। 'रूप नश्वर होता है' आदि वाक्यों को शास्त्रों में प्रतिज्ञा कहते हैं और वह प्रतिज्ञा धर्मसंश्रय, अर्थसंश्रय, कामसंश्रय एवं कोपसंश्रय होती है।[३७] इन चार प्रकारों की प्रतिज्ञा से भिन्न प्रतिज्ञा शास्त्र को सम्मत नहीं।[३८] किन्तु काव्य में बिना किसी प्रतिज्ञा के भी अनुमान-प्राप्ति का वर्णन पाया जाता है।

"अथाभ्युपगमप्राप्तिः सन्धाभ्युपगमाद्विना।
अनुक्तमपि यत्रार्थादभ्युपैति यथोच्यते ॥"[३९]

काव्य में यह सब संभव है। इसका कारण यह है कि, काव्य 'काव्य' होता है, शास्त्र नहीं। शास्त्र की यह मान्यता है कि, हेतु अर्थसिद्धि में उपकारक है। किन्तु काव्य में तो बिना हेतु वर्णन के अथवा असद् हेतु वर्णन होने पर भी अर्थ-प्राप्ति होती है। उदाहरण के लिए—

'दीप्रदीपा निशा जज्ञे ऽयपवृत्तदिवाकरा ॥''[४०]

अर्थात्, 'निशाकालीन प्रकाशयुक्त दीपकों से सूर्यास्त का होना ज्ञात हुआ।' यह वर्णन शास्त्र की दृष्टि से अयोग्य है, किन्तु काव्य की दृष्टि से ग्राह्य है। इस भेद का कारण यह है कि, सत्य के मूल्यांकन का शास्त्रीय एवं साहित्यिक निकष परस्परभिन्न है। इस लिए 'ये काश अपने फूलों की सुगन्धि से मन मोहते हैं।'[४१] आदि वर्णन काव्य में शोभाजनक होते हैं, तो शास्त्र में हेतुदुष्ट अतएव त्याज्य माने जाते हैं। उक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, शास्त्र एवं काव्य में क्या भेद होता है, तथा शास्त्रगत सत्य से काव्यगत सत्य किस दृष्टि से भिन्न होता है, इन दोनों बातों पर भामह ने गम्भीरतापूर्वक विचार किया है। काव्य का क्षेत्र भिन्न है। काव्यगत सत्य दूसरी वस्तु है और काव्य के मूल्यांकन की कसौटी अलग होती है, ये सब आधुनिक विमर्शकों को सम्मत सिद्धान्त भामह को भी परिज्ञात थे, यह देखकर उसके प्रति मन में आदरभाव उत्पन्न होता है।

एतावता भामह के विचारों के परामर्श का सारसंकलन इस प्रकार किया जा सकता है—

१. भामह के अनुसार प्रतिभा प्राकृतिक देन है।
२. उत्तम काव्य का निर्माण बार-बार नहीं होता, अपि तु कभी कभी हौता है। इस लिए उत्तम काव्य दुर्लभ (विरल) होता है।
३. सत्कवि निर्दोष रचना के ध्येय को ही अपने सम्मुख रखता है।
४. सदोष काव्य कवि की साक्षात् मृत्यु होती है।
५. काव्यगत पात्रों के चरित्रचित्रण में आदि से अन्त तक सुसंगति होना आवश्यक है।
६. जो काव्य महान् आदर्श व्यक्तियों के महान् सुखदुःखों का रससंपन्न वर्णन करता है, वही महाकाव्य है।
७. रसिक पाठक का मनोरंजन करना काव्य का उद्देश्य होता है, तो पाठक का उद्‌बोधन करना शास्त्र का उद्देश्य होता है।
८. जो आस्वादनसुलभ होता है वही काव्य है, जो आस्वादनदुर्लभ होता है वह मानो कपित्थ के समान अकाव्य है।
९. काव्य की परीक्षा काव्यनिष्ठ मूल्यों से ही करनी चाहिए, तदितर मूल्यों से नहीं।
१०. वक्रोक्ति समस्त काव्य को व्यापनेवाला तत्त्व है, इस लिए वक्रोक्ति के अभाव में काव्य का भी अभाव होता है।
११ साहित्य का विषयक्षेत्र संपूर्ण जीवनव्यापी होता है।
१२. जो स्वानुभूति का सरस शब्दांकन करता है वह 'सम्मान्य' साहित्यिक होता है, जो परानुभूति का शब्दांकन करता है वह 'सामान्य' साहित्यकार होता है।

१३. कवि को काव्य में सूक्ष्म शब्दविवेक अनिवार्यतया करना पड़ता है।

१४. सदभिरुचिसम्पन्न शब्दार्थालंकारों के बिना काव्य में सौन्दर्य का निर्माण नहीं होता है।

१५. शास्त्र सत्य का परामर्श करता है, काव्य लोकानुभव को स्पर्श करता है। इसी लिए काव्यगत सत्य शास्त्रगत सत्य से भिन्न होता है और दोनों के मूल्यांकन के निकष भी भिन्न होते हैं।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. P. V. Kane—*History of Sanskrit Poetics*, Third revised edition, Delhi, 1961, pp. 78-81 २. Ibid p. 118

३. भामह—आचार्य भामहविरचित काव्यालङ्कारः (अतःपर 'भामह' संकेत द्वारा उल्लिखित), भाष्यकार देवेन्द्रनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, सन् १९६२, परिच्छेद १, कारिकाएँ ३-५

४. भामह १/११-१२

५. राजशेखर-—कविराज-राजशेखरविरचिता **काव्यमीमांसा** संपा० पं० मधुसूदन मिश्र, चौखंबा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३४ पृ० ६१-६२

६. भामह १/२२-२३ ७. तत्रैव १/१९ ८. तत्रैव ५/६७

९. तत्रैव १/२० १०. तत्रैव १/३५ ११. तत्रैव २/२०

१२. तत्रैव ५/२ १३. तत्रैव ५/६२

१४. **दण्डि**—दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधम् **काव्यलक्षणम्**-रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया टीकया समलंकृतम्, संस्कर्ता-श्रीमदनन्तलालदेवशर्मा ठक्कुर तथा श्रीमदुपेन्द्रशर्मा उपाध्याय, मिथिला विद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा, १९५७

१५. तत्रैव १/४०-१०२ १६. भामह १/३१-३३ १७. तत्रैव १/३४

१८. तत्रैव १/३० १९. तत्रैव १/३६ २०. तत्रैव २/८५

२१. तत्रैव २/८६-८७ २२. तत्रैव ५/६६ २३. तत्रैव ६/२३

२४. तुलना कीजिये—'न हि चमत्कारविरहितस्य कवेः कवित्वं काव्यस्य वा काव्यत्वम् ।' **क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसङ्ग्रहः**—संपा० आर्येन्द्रशर्मा, ई. व्ही. व्ही. राघवाचार्य एवं द. गो. पाध्ये, उस्मानिया विश्वविद्यालयस्था संस्कृतपरिषद् प्रकाशन, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ७१

२५. भामह ५/४ २६. तत्रैव ६/४-५ २७. तत्रैव ६/६
२८. तत्रैव १/५९ २९. तत्रैव १/१३ ३०. तत्रैव १/१५
३१. तत्रैव २/४३ ३२. तत्रैव २/६१-६२ ३३. तत्रैव ३/५८
३४. तत्रैव ५/३० ३५. तत्रैव ५/३१-३२ ३६. तत्रैव ५/३३
३७. तत्रैव ५/३५-३९ ३८. तत्रैव ५/४० ३९. तत्रैव ५/४५
४०. तत्रैव ५/५१ ४१. तत्रैव ५/५३-५४

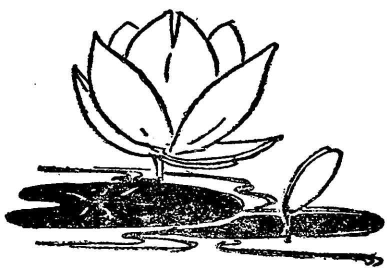

दण्डीका 'काव्यलक्षण' : एक अध्ययन

१. दण्डीके ग्रन्थ का स्वरूप

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यन्त प्राचीन एवं प्रदीर्घ है। भरतमुनिप्रणीत 'नाट्यशास्त्र' इस परम्परा का 'आदि' माना जाता है, तो जगन्नाथ पण्डित-विरचित 'रसगङ्गाधर' उसका अधिकृत अन्त है। इन दो आचार्यों के मध्यावधि में अनेक सम्मान्य काव्यशास्त्रज्ञ हो गये हैं, जिनमें 'काव्यलक्षण' अर्थात् 'काव्यादर्श' के प्रणेता दण्डी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। दण्डी भारतीय काव्यशास्त्र के आदियुग का ग्रन्थकार है। उसका ग्रन्थ शास्त्रीय होनेपर भी सुबोध एवं काव्यमय है, इसलिए यह विद्वन्मान्य हुआ है। इस ग्रन्थ में दण्डी ने काव्य के शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, चित्रालङ्कार के अनेक भेद, प्रसादादि गुण, अपार्थकत्वादि दोष आदि विषयों का संक्षिप्त निरूपण किया है।[1] उस निरूपण के प्रसङ्ग में दण्डी ने वाणी की महिमा, काव्य का प्रयोजन, काव्य की अक्षरता, काव्यशास्त्र की आवश्यकता, काव्य की निर्दोषता, शास्त्राध्ययन की अपरिहार्यता, काव्यगत शब्दार्थालङ्कारों का स्वरूप, आदि उपविषयों का कहीं प्रत्यक्षतया तो कहीं अप्रत्यक्षतया विवेचन किया हुआ है। उसीका अनुशीलन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। यह अनुशीलन निम्नलिखित टीकाओं के आधार पर प्रस्तुत किया जा रहा है:—

१. महाकविदण्ड्याचार्यविरचितः **काव्यादर्शः** 'प्रकाश' संस्कृतहिन्दीव्याख्याद्वयोपेतः, व्याख्याकार श्रीरामचन्द्र मिश्र, वाराणसी, ई० स० १९५८

२. महाकविश्रीदण्ड्याचार्यविरचितः **काव्यादर्शः** श्रीप्रेमचन्द्र तर्कवागीशभट्टाचार्य-विरचितमालिन्यप्रोञ्छनीटीकासहितः, संस्कर्ता श्रीभवदेव चट्टोपाध्याय, कलकत्ता, शके १८०३

३. महाकविश्रीदण्ड्याचार्यविरचितः **काव्यादर्शः** श्रीनृसिंहदेवशास्त्रिणा रचितया 'कुसुम-प्रतिमा' व्याख्यया सहितः, लाहोर, प्रथम संस्करण, १९२५

४. महाकविश्रीदण्ड्याचार्यविरचितः **काव्यादर्शः** श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य-विरचितविवृतिसमेतः, कलकत्ता, ई० स० १८७५

और ५ दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधम् **काव्यलक्षणम्** रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया टीकया समलंकृतम्, संस्कर्ता—श्रीमदनन्तलालदेवशर्मा ठक्कुर एवं श्रीमदुपेन्द्रशर्मा उपाध्याय, मिथिलाविद्यापीठ प्रकाशन, दरभंगा, १९५७। इस निबन्ध में उद्धृत सभी कारिकाएँ इसी ग्रन्थ की हैं।

२. वाणी का गुणगान

आचार्य दण्डी अपने ग्रन्थ में 'काव्यलक्षण' का प्रतिपादन करना चाहता है। वह स्वयं कहता है—

'पूर्वशास्त्राणि संहृत्य प्रयोगानुपलक्ष्य च।
यथासामर्थ्यमस्माभिः क्रियते काव्यलक्षणम् ॥'१/२

काव्य का शरीर शब्दार्थरूप अर्थात् वाणीस्वरूप होता है (**'शरीरं तावदिष्टार्थ-व्यवच्छिन्ना पदावली'** ॥ १/१०) इस लिए दण्डी ग्रन्थ के आरम्भ में वाणी की महिमा को प्रदर्शित करता है—

'इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सवथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥
इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदिशब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान्न दीप्यते॥' १/३-४

अर्थात्—'व्याकरणशास्त्र में पारङ्गत पाणिनिवररुचिप्रभृति विद्वानोंके द्वारा अनुशासित संस्कृत-प्राकृत-भाषियों तथा अन्य देशी-भाषाभाषियों का भी आहारविहारादि यच्चयावत् लोकव्यवहार वाणीके ही कृपाप्रसाद से सर्वथा सम्पन्न होते हैं। यदि यह शब्द ज्योति सम्पूर्ण विश्व को प्रकाशित न करती तो यह सारा त्रिभुवन घने अन्धकार में डूब जाता।'

ग्रन्थकार का यह अभिप्राय है कि, मानव का सम्पूर्ण जीवन वाणी के व्यापार पर निर्भर है। मानव जीवन में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गये हैं। व्याकरण, श्रुति, स्मृति, दर्शन आदि शास्त्रों के समान काव्य भी पुरुषार्थ प्रतिपादक होते हैं। शास्त्र तथा काव्य का प्रणयन संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं में हुआ उपलब्ध है। शास्त्रों से मनुष्य को विविध सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है। काव्यग्रन्थों में मनुष्य के अनुराग, लोभ, मोह, असूया आदि स्थूल-सूक्ष्म मनोभावों, विकारों तथा विचारों का आविष्करण होता है। शास्त्र एवं काव्य दोनों मानवीय व्यवहारविधाएँ वाणी के अधीन होती हैं। शास्त्र एवं काव्य दोनों मानव जीवन के आवश्यक अङ्ग हैं, कि बहुना इन दोनों से ही मानव जीवन सम्पूर्ण बनता है। अर्थात् सम्पूर्ण मानव जीवन ही वाणी के व्यापार पर आधृत होता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए दण्डी ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही वाणी के महत्त्व को उपर्युद्धृत शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

३ काव्य का प्रयोजन

इस प्रकार वाणी का गुणगान करने के पश्चात् दण्डी ने इसी वाणी के द्वारा सिद्ध होने वाले काव्य के प्रयोजन का विचार किया है। इस विषय में दण्डी का मत है—

'आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम् ।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वयं पश्य नश्यति ॥' १/५

अर्थात्—'मनु, इक्ष्वाकु, मान्धाता, दिलीप आदि प्राचीन राजाओं का कीर्तिरूप बिम्ब, उनके समीप न रहने पर भी, इस वाङ्मयरूप दर्पण को प्राप्त कर नष्ट नहीं हुआ है, इस बात को आप स्वयं देख लें ।'

उक्त प्राचीन राजा गुणसम्पन्न होने के कारण कीर्तिशाली थे । उनके गुणों का वर्णन शास्त्रों तथा काव्यों में किया गया है । उदाहरण के लिए, महाभारत-रामायणप्रभृति ऋषिप्रणीत इतिहासपुराणों में तथा रघुवंशकिरातादि मानवप्रणीत काव्यों में प्राचीन राजाओं के चरित्रों का वर्णन पाया जाता है । सम्प्रति वे राजागण विद्यमान नहीं हैं, किन्तु उनके चरित्र जिनमें वर्णित हैं वे शास्त्रीय, ऐतिहासिक अथवा काव्यस्वरूप ग्रन्थ अभी भी विद्यमान हैं । राजाओं का यश बिम्बरूप होकर उक्त ग्रन्थ प्रतिबिम्बरूप हैं । बिम्ब न रहने पर भी प्रतिबिम्ब विद्यमान है, यह बात विस्मयजनक है । दण्डी का अभिप्राय यह है कि, सच्चरित्र, विक्रमी, दानशूर एवं नीतिज्ञ राजाओं के यशोगान के लिए शास्त्रों तथा काव्यों का प्रणयन होता है और इस प्रकार के ग्रन्थ चिरस्थायी होते हैं । वे रचयिताओं की कीर्ति को भी चिरजीविनी करते हैं । इस प्रकार के ग्रन्थ अग्रिम पीढ़ियों के पाठकों को सदाचरण की शिक्षा देते हैं और नवकवियों को 'आदर्श' ग्रन्थों के प्रणयन की प्रेरणा देते हैं । भिन्न शब्दों में कहा जाए तो, दण्डी ने उक्त पङ्क्तियों में पश्चाद्वर्ती मम्मट के द्वारा प्रतिपादित 'यशसे' काव्य-प्रयोजन का ही निरूपण किया है । उसने इसके अतिरिक्त यह भी मार्मिक शब्दों में कहा है कि, सत्काव्य के आस्वादन या निर्माण से सहृदय व्यक्ति को विशुद्ध एवं परमोच्च आनन्द की प्राप्ति होती है । इस सम्बन्ध में उसकी उक्तियाँ इस प्रकार हैं—

'व्युत्पन्नबुद्धिरमुना विधिदर्शितेन
मार्गेण दोषगुणयोर्वशवर्तिनीभिः ।
वाग्भिः कृताभिसरणो मदिरेक्षणाभि-
र्धन्यो युवेव रमते लभते च कीर्तिम् ॥' ३/१८७

अर्थात्—'इस काव्यलक्षण ग्रन्थ में परिवर्णित काव्यविधान पद्धति से व्युत्पन्न एवं विवेकशील पुरुष दोषों एवं गुणों को परखकर वाणी को अपने वश में कर उसके साथ विलास करता है और कीर्ति को भी प्राप्त करता है, जैसे रमणीय युवती को वशवर्तिनी बनाकर युवक उसके साथ विलास करता है ।'

इससे यह स्पष्ट होता है कि, युवती से रममाण होने वाले पुरुष को केवल आनन्द का ही लाभ होता है, किन्तु वाणी को अपने वश में करने वाले पुरुष को आनन्द के साथ-साथ कीर्ति का भी लाभ होता है । इसके अतिरिक्त उक्त उक्ति से और भी कुछ बातें स्पष्ट

होती हैं। जैसे, काव्यलक्षण ग्रन्थ पाठक को काव्यगत गुणों एवं दोषों का अच्छा परिचय करा देता है, दोषों एवं गुणों को जानने वाला पुरुष वाणी पर प्रभुता पाने में समर्थ होता है, और वह वाणी के प्रणयनप्रावीण्य एवं रसास्वादजनित उत्कट आनन्द से लाभान्वित होता है। सारांश, परमोच्च आनन्द की प्राप्ति न केवल काव्य का आस्वाद करने वाले रसिक को होती है, अपि तु, काव्य के निर्माता एवं 'काव्यशास्त्र' के अध्येता को भी होती है। अर्थात् 'आनन्द' काव्य के समस्त व्यापार का परमोच्च प्रयोजन है, यह दण्डी की मान्यता प्रस्थापित होती है। इस प्रकार पश्चाद्वर्ती मम्मट के द्वारा प्रतिपादित 'यशसे' और 'निर्वृतये' ये दोनों काव्यप्रयोजन पूर्ववर्ती दण्डी के द्वारा पहले ही प्रतिपादित हुए हैं, यह नितान्त स्पष्ट है।

४. काव्यशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

यद्यपि काव्य के आस्वादक को साध्यरूप में परमोच्च आनन्द की प्राप्ति होती है, तथापि, उसे काव्य के अध्ययन, परिशीलन, समीक्षण एवं आस्वादन के तन्त्र को साधनरूप में अङ्गीकृत करना ही पड़ता है। आस्वादक को एक प्रकार की बौद्धिक क्षमता पहले प्राप्त करनी होती है। भिन्न शब्दों में कहा जाए तो रसिक को काव्यशास्त्र का अध्ययन अनिवार्यतया करना पड़ता है। दण्डीने इसी विचार को निम्नोद्धृत सुचारु उक्ति में प्रकट किया है—

> "गुणदोषानशास्त्रज्ञः कथं विभजते जनः।
> किमन्धस्याधिकारोऽस्ति रूपभेदोपलब्धिषु ॥"—१/८

अर्थात्—'काव्य के गुणों एवं दोषों का परिचय करानेवाले काव्यमीमांसाशास्त्र का ज्ञान न रखनेवाले मनुष्य को गुणों तथा दोषों के अन्तर का ज्ञान भलीभाँति कैसे हो पाएगा ? विविध रंगों की वस्तुओं के पार्थक्य का ज्ञान सम्पादन करने की योग्यता क्या किसी अन्धे को हो सकती है ?'

गुण पुरुषार्थ से संगृहीत होनेवाले उपादेय अर्थ हैं, तो दोष तद्विपरीत होते हैं। काव्य के सन्दर्भ में शब्दालंकार एवं अर्थालंकार गुण हैं और अपार्थादि दोष हैं। इन गुणों तथा दोषों का सम्यक् ज्ञान शास्त्र के अध्ययन से ही होता है। शास्त्राभ्यास से ही मनुष्य गुणदोषों का विवेक कर सकता है। अशास्त्रज्ञ मनुष्य किसी अन्धेके समान ही होता है। वस्तुओं का कोई रंग होता है, इतना ही ज्ञान अन्ध मनुष्य को होता है, किन्तु, नील, पीत, श्वेत आदि रंगों का प्रत्यक्ष उसे नहीं होता। अतएव वह इन रंगों के भेदों को जानने में सर्वथा अक्षम होता है। दण्डी के कहने का तात्पर्य यह है कि, सामान्य व्यवहारगत गुणदोषों के विवेक के लिए अन्यान्य शास्त्र जैसे उपकारक होते हैं, वैसे काव्यव्यवहारगत गुणदोषों के सम्यक् विवेक के लिए काव्यशास्त्र उपकारक होता है। मानो काव्यशास्त्र

गुणदोषों का 'प्रकाशक' है; काव्य के स्वरूप के आकलन का 'नेत्र' है। इस प्रकार काव्य का रहस्य शास्त्राध्ययनैकगम्य होने के कारण प्राचीन आचार्यों ने काव्यशास्त्रीय ग्रंथों का प्रणयन किया है। निम्नलिखित उक्ति में दण्डीने यही तथ्य प्रतिपादित किया है—

"अतः प्रजानां व्युत्पत्तिमभिसन्धाय सूरयः।
वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम्॥" १/९

अर्थात्—'इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने काव्याध्ययन करनेवाले व्यक्तियों को काव्यगत गुणदोषों का सम्यक् परिचय कराने हेतु वाणी के शब्दार्थालंकारों में निबद्ध, वैचित्र्यपूर्ण एवं विभिन्न शैलियों में रचे जानेवाले काव्यों के निर्माणविधि (अर्थात् शास्त्र या तंत्र) की रचनाएँ की।'

काव्य के गुणों तथा दोषों का सम्यक् ज्ञान काव्यशास्त्र के अध्ययन से ही होता है, अर्थात् काव्यनिर्माता एवं काव्यरसिक के लिए वह ज्ञान परमावश्यक होता है, यह पहले स्पष्ट किया जा चुका है। उसी के सन्दर्भ में उक्त पंक्तियों में दण्डी ने यह कहा है कि, काव्यशास्त्रपरक ग्रन्थों के प्रणयन में प्राचीन आचार्यों का उद्देश्य लोगों को गुणदोषों का यथार्थ ज्ञान कराना ही था। ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेवाला पुरुष 'व्युत्पन्नबुद्धि' होता है और वही काव्यानन्द का लाभ उठा सकता है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में विद्यासमुद्देश में क्रियाकल्प शब्द को काव्यकरणविधिः या काव्यालङ्कार के अर्थ में प्रयुक्त किया है। दण्डी ने भी यहाँ क्रियाविधि शब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त किया है। दण्डी के ग्रंथ में गौड़ी और वैदर्भी रीतियों का स्पष्ट एवं सुविस्तृत विवेचन हुआ है। फिर भी प्रतिकविस्थिता रीति के सभी भेदोपभेदों की गणना असम्भव है ('तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकविस्थिताः॥ १/१०१) ऐसा उसने प्रतिपादित किया है। उक्त कारिका में उसने वही अभिप्राय 'विचित्रमार्गाणां' शब्द से प्रकट किया है। (दण्डी ने अपने ग्रंथ में मार्ग, वर्त्मन्, पद्धति, प्रस्थान आदि शब्द 'रीति' वाचक माने हैं)। अर्थात् यह निष्पन्न होता है कि, विभिन्न मार्गों में निबद्ध काव्यों के गुणदोषों का ज्ञान अलंकारशास्त्र से होता है। इसीलिए अलंकारशास्त्र वाग्विदग्धता तथा वाग्रचना का मर्म उद्घाटित करनेवाली मानो कुंजी है।

(५) विदग्ध सहृदय के अभिप्राय की महिमा

उक्त कुंजी को हस्तगत करनेवाले सहृदय को विशेष योग्यता प्राप्त होती है। उसकी बुद्धि प्रगल्भ बनती है तथा मानसिक शक्ति विकसित होती है। वह काव्यगत गुणों का ग्रहण कर सकता है, दोषों को परख कर उनका विश्लेषण कर सकता है, अलंकारों के सौन्दर्य की अनुभूति को प्राप्त कर सकता है और रस का आस्वाद ले सकता है। उसे काव्य एवं अकाव्य के भेद का यथार्थ बोध होता है। उसकी साहित्यिक अभिरुचि धीरे-धीरे परिपक्व होती जाती है और उसे 'कवि की दृष्टि' प्राप्त होती है। फलस्वरूप वह काव्यसृष्टिगत

विविध रचनाओं पर अपना 'तज्ज्ञ' मत दे सकता है। ऐसे विदग्ध एवं परिपक्व बुद्धि के सहृदय का अभिप्राय काव्य के क्षेत्र में बहुत महत्त्व रखता है। दण्डी ने इस तथ्य को भलीभाँति जानकर उसीको निम्नोद्धृत पद्य में मुखरित किया है—

"न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न वर्ज्यते।
यद्युपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥"-१/२०

अर्थात्—'यदि वर्णित विषयों के द्वारा होनेवाला रसपरिपोष काव्य के स्वरूप या रहस्य को जाननेवाले विद्वानों को परितुष्ट करनेवाला हो, तो महाकाव्य में कुछ अंगों की न्यूनता होने पर भी उसको (महाकाव्य को) विद्वान् लोग वर्जित नहीं मानते हैं।'

दण्डी का अभिप्राय यह है कि, प्रत्येक महाकाव्य में काव्यशास्त्रोक्त सभी अंग एवं उपांग रहते ही हो ऐसी बात नहीं है। कवि द्वारा जो वर्णन किये गये हों, वे रससुन्दर होने चाहिए। उन वर्णनों से विदग्ध रसिकों को सन्तोष प्राप्त होना चाहिए। ऐसा महाकाव्य कुछ अंगों से रहित होनेपर भी सदोष नहीं माना जाता है। अर्थात् यहाँ दण्डीने यही सूचित किया है कि, रसिकों का सन्तोष ही काव्य के सदसत्त्व की परीक्षा करने की कसौटी है। इसी अभिप्राय को उसने सुकुमारता गुण के विवरण के प्रसङ्ग में फिर एक बार प्रकट किया है ('मण्डलीकृत्य बर्हाणि कण्ठैर्मधुरगीतिभिः। कलापिनः प्रनृत्यन्ति काले जीमूतमालिनि॥'—१/७०) यह सुकुमारता गुण का उदाहरण उद्धृत कर दण्डी प्रतिपादित करता है—

"इत्यनूर्जित एवार्थो नालङ्कारोऽपि तादृशः।
सुकुमारतयैवैतदारोहति सतां मुखम्॥"—१/७१

अर्थात्—'इस पद्य का अर्थ ऊर्जित वा प्रतिविशिष्ट नहीं है। इसमें कोई वैसा हृद्य अलंकार भी नहीं। फिर भी सुकुमारता गुण मात्र के रहने से यह पद्य रसज्ञ विद्वानों के मुखपर नाचता रहता है।'

दण्डीका अभिप्राय यह है कि, काव्य का काव्यत्व अलंकारों अथवा मनोरम अर्थों पर ही निर्भर होता है, ऐसी बात नहीं। किसी गुण के रहनेपर भी रचना को 'काव्य' उपाधि दी जा सकती है। काव्य रसिकों को सन्तोष देनेवाला होना चाहिए। यदि उन्हें काव्य पसन्द आ जाता है तो वह किंचित् सदोष रहनेपर भी सुन्दर ही माना जाता है। इसी भूमिका को अपना कर दण्डीने लिखा है—

"न लिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा।
उपमादूषणायालं यत्रोद्वेगो न धीमताम्॥"—२/५१

अर्थात्—'जिन काव्यों को पढ़ते समय सहृदय पाठकों के मन में उद्वेग उत्पन्न नहीं होता है ऐसे काव्यों में उपमान एवं उपमेय में लिंग-भेद या वचन-भेद के रहने पर भी वे उपमा अलंकार को सदोष ठहराने में समर्थ नहीं होते हैं।'

अर्थात् काव्य की सरसता काव्यशास्त्र के निकषमात्र से निर्धारित नहीं होती, तो सहृदयों की प्रीति या सम्मति से वह निर्धारित होती है। जो काव्य उन्हें अप्रिय प्रतीत होता है वह निकृष्ट माना जाता है। इसके विपरीत जो काव्य, सदोष रहने पर भी, उन्हें प्रिय होता है, वह उत्कृष्ट माना जाता है। सारांश, दण्डी की दृष्टि में, विदग्ध सहृदय का सुसंस्कृत एवं सदभिरुचिसम्पन्न मत ही काव्य के सदसन्निर्णय का मानो सर्वोच्च न्यायालय है।

(६) नवशिक्षित कवि को भी काव्यशास्त्रज्ञान की आवश्यकता।

काव्यशास्त्र का सम्यक् ज्ञान अध्ययनशील सहृदय को आदर्श काव्यनिर्णेता बना सकता है, तो जिसमें जन्म से प्रतिभा की सत्ता होती है, ऐसे भाग्यशाली पुरुष को वह ज्ञान उत्कृष्ट काव्यनिर्माता बना सकता है। इसीलिए दण्डी का आग्रहपूर्वक कथन है कि, जो सत्कवि बनने की महत्त्वाकांक्षा रखता हो, वह परिश्रम से काव्यशास्त्र का ज्ञान सम्पादन करे। प्रकृतिप्राप्त प्रतिभा मात्र की सहायता से सत्काव्य का निर्माण नहीं हो सकता है, उसके लिए व्युत्पत्ति एवं अभ्यास की भी आवश्यकता होती है, ऐसी दण्डी की दृढ़ धारणा है, जो निम्नोद्धृत पद्य में मुखर हुई है—

> "नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम्।
> अमन्दश्चाभियोगोऽस्याः कारणं काव्यसम्पदः॥" १/१०३

अर्थात्—'सहजा प्रतिभाशक्ति, अत्यन्त शुद्ध विविधशास्त्रज्ञान और पर्याप्त अभ्यास ये निर्दोष काव्यरचना के कारण हैं।'

प्रतिभा शक्ति स्वाभाविक होकर पूर्वजन्म के अभ्यास से उत्पन्न होती है। अर्थात् वह सहजा होती है। उस प्रतिभा से कवि को हेय एवं उपादेय अङ्गों का ज्ञान होता है। श्रुत का तात्पर्य काव्याङ्गभूत विद्याओं (जैसे व्याकरणशास्त्र, अलङ्कारशास्त्र, छन्दःशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों) का श्रवण के द्वारा ज्ञान सम्पादन करना है। यह ज्ञान आम्नाय (सम्प्रदाय) से यदि प्राप्त हुआ हो तो वह विशुद्ध होकर उसमें सन्देह अथवा विपर्यास नहीं होता। इस श्रुतज्ञान का चिन्तन अर्थात् ऊहापोह करके अपने सम्प्रदाय के अविरुद्ध अर्थों का निश्चय करना आवश्यक होता है, इसी को 'चिन्तामय' ज्ञान कहते हैं। इस प्रकार निश्चित हुए ज्ञान का अभ्यास (आवृत्ति) द्वारा स्थिरीकरण भावनामय ज्ञान कहलाता है। अर्थात् काव्यविषयक व्युत्पत्ति त्रिविध होती है—प्रतिभा, श्रुतज्ञान एवं चिन्ताभावनामय ज्ञान। इस ज्ञान से समुत्पन्न काव्य 'व्युत्पन्न' होता है, और यही ज्ञान काव्यरचना का निर्दोष निर्माणहेतु है। किन्तु यहाँ ऐसा प्रश्न उपस्थित होता है कि, जिसको नैसर्गिकी प्रतिभा प्राप्त न हो वह क्या करे? क्या वह मौन रहे? क्या वह कोई परिश्रम न करे? इन प्रश्नों के भी उत्तर दण्डी ने निम्नलिखित पद्य में दिये हैं—

'न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना-
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥' १/१०४

अर्थात्—'यदि पूर्वजन्म के संस्कारों से समुत्पन्न तथा अद्भुत काव्यनिर्माण में सक्षम प्रतिभा किसी में न भी रहती हो, तो भी श्रुत एवं प्रयत्न से सरस्वती की उपासना करने पर वह उस व्यक्ति पर कोई न कोई अनुग्रह अवश्य ही करती है ।'

दण्डी का अभिप्राय यह है कि, उत्कट काव्य के निर्माण के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास के 'साहित्य' (सहितभाव) का होना अनिवार्य है, तथापि प्रतिभाहीन पुरुष को चाहिए कि वह 'काष्ठाद् अग्निर्जायते मथ्यमानात् । भूमिस्तोयं खन्यमाना ददाति । सोत्साहानां नास्त्यसाध्यं नराणां । मार्गारब्धाः सर्वयत्नाः फलन्ति ।' आदि पद्य में निर्दिष्ट उपदेश के अनुसार शास्त्राध्ययन करे जिससे वह प्रथमतः वाक्यपटुता को प्राप्त कर पश्चात् काव्यपटुता को भी प्राप्त करने में सफल हो सकेगा । इस सन्दर्भ में दण्डी की उक्ति है—

'तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः ।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते ॥' १/१०५

अर्थात्—'इस लिए कवि अथवा सहृदय के स्वरूपमें कीर्ति की अभिलाषा रखने वाले व्यक्तियों को चाहिए कि वे आलस्यहीन होकर सरस्वती देवी की परिश्रम के साथ रातदिन उपासना करें । ऐसा करने पर जिनमें नैसर्गिकी कवित्वशक्ति क्षीण होती है, ऐसे भी परिश्रमशील लोग सहृदयों की सभा में सम्मान के साथ बैठ सकते हैं ।'

यहाँ सरस्वती शब्द का अर्थ है काव्य के उपकारक अंगों के शास्त्रों का अध्ययन । यह अध्ययन अध्येता को कीर्ति की प्राप्ति कराता है । ऐसे व्यक्ति को धन या सत्कारादि का लाभ होता है । यदि ऐसा पुरुष मुक्तक की रचना करने में भी अक्षम होता है, तो भी वह परकाव्यविशारद होकर कविगोष्ठियों में सम्मान का स्थान प्राप्त करता है । इस प्रकार काव्यांगविद्यारूप अध्ययन से चार लाभ होते हैं— १- काव्यरचना करने में सामर्थ्य प्राप्त होता है, २- परिशुद्ध काव्यरचना से कीर्ति प्राप्त होती है, ३- काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है और ४- कविगोष्ठियों में काव्यमर्मज्ञ सहृदय के नाते स्थान प्राप्त होता है । दण्डी का यह समस्त विवेचन गंभीर एवं मननीय विचारों से परिप्लुत है ।

७. काव्य का परामर्श काव्यदृष्टि से करना चाहिए ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, शास्त्राध्ययन के विषय में दण्डी की भूमिका बहुत ही सामंजस्यपूर्ण एवं सन्तुलित है । उसकी काव्यदोषविषयक भूमिका भी

इसी प्रकार की है। काव्य यथासम्भव निर्दोष होना चाहिए, क्योंकि काव्यगत एक दोष भी, शरीर पर होने वाले कुष्ठ के दाग के समान, काव्यसौन्दर्य को नष्ट करता है। ('तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्यं दुष्टं कथञ्चन। स्याद् वपुः सुन्दरमपि श्वित्रेणैकेन दुर्भगम् ॥' १/७) यह दण्डीका एतद्विषयक आदर्श है। उसने भी भामह के अनुसार अपार्थादि दोषों को अत्यन्त परिहार्य दोषों के रूप में बताया है (काव्यलक्षण ३/१२५-१२६)। किन्तु, दण्डी कि इस विषय में यह भूमिका है कि, जिनके द्वारा सहृदयों को उद्वेग होता है, जिनसे कवि का अज्ञान प्रकट होता है, जिनके कारण काव्य उपहसनीय बनता है, अथवा जिनसे काव्यसौन्दर्य की हानि होती है, केवल उन्हीं को दोष कहा जाए। दण्डी ने प्रतिज्ञाहानि आदि दोषों की चर्चा करते समय स्पष्ट शब्दों में पूछा है—

'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्यसौ।
विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम् ॥'-३/१२७

अर्थात्—'प्रतिज्ञाहानि, हेतुहानि, एवं दृष्टान्तहानि को दोष समझें या न समझें यह विचार ही प्रायः नीरस है। इस लिए उसका परामर्श करने से क्या लाभ है ?'

दण्डी के प्रतिपादन का तात्पर्य यह है कि, उक्त दोष न्यायदर्शन में परिगणित अवश्य हैं। किन्तु उनका परामर्श काव्यचर्चा में करने से कोई लाभ नहीं है। कारण काव्य कोई दर्शन अथवा शास्त्र नहीं है, अतः जो चर्चा दर्शन अथवा शास्त्र में युक्तियुक्त एवं समीचीन होती है उसका काव्य में होना अनिवार्य नहीं होता। काव्य का विचार काव्यदृष्टि से होना चाहिए, न तु शास्त्रदृष्टि से। पुनः, जिन दोषों की प्रतीति स्वतः रसिकों को होती है, उन्हीं को दोषरूप मानना उचित है। ऐसे स्वतः प्रतीत होने वाले दोषों की लम्बीचौड़ी चर्चा अनावश्यक है। इस सन्दर्भ में इस तथ्य की ओर भी ध्यान देना परमावश्यक है कि, सभी दोष सर्वथा त्याज्य नहीं होते। कुछ दोष विशेष प्रसङ्ग में गुणरूप होते हैं। पुनरुक्त दोष के विवेचन के अवसर पर दण्डी ने कहा है—

'अनुकम्पाद्यतिशयो यदि कश्चिद् विवक्ष्यते।
न दोषः पुनरुक्तोऽपि प्रत्युतेयमलंकृतिः ॥' ३/१३७

अर्थात्—'यदि किसी काव्य में अनुकम्पादि भावों की उत्कटता का वर्णन अभीष्ट हो तो उसमें शब्दों अथवा अर्थों की पुनरुक्ति दूषणास्पद न होकर भूषणास्पद ही होती है।' अपने कथन की पुष्टि में दण्डीने 'हन्यते सा वरारोहा स्मरेणाकाण्डवैरिणा। हन्यते चारुसर्वाङ्गी हन्यते मञ्जुभाषिणी ॥' (३/१३८) इस पद्य को उद्धृत कर 'हन्यते' शब्द की पुनरुक्ति नायिकाविषयक अपरम्पार सहानुभूति की परिपोषिका ही है, यह विशद किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि, दण्डीने काव्यदोषों का विचार बहुत ही सूक्ष्मता, मार्मिकता एवं सहृदयता से किया है। सारांश, दण्डी की दृष्टि में जो वर्णन काव्य के सौभाग्य को नष्ट करता है वह दूषणीय होता है, जो वर्णन काव्यगत सौन्दर्य का संरक्षण एवं सम्वर्धन करता है, वह भूषणीय होता है।

८ दण्डीकृत महाकाव्य-लक्षण

दण्डीकी यही सौन्दर्यपूजक एवं विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि तत्प्रतिपादित महाकाव्य-लक्षण में भी स्पष्टतया परिलक्षित होती है। उसने भामह के समान, महाकाव्य का लक्षण अपने ग्रंथ के प्रथम परिच्छेद के पद्याङ्क १४ से १९ में किया है। किन्तु काव्यगत वर्णन में कौन-सा क्रम रखना चाहिए इस विषय का निरूपण करते समय उच्च कलादृष्टि प्रदर्शित की है। वह कहता है—

"गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः॥
वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥"—१/२१-२२

अर्थात्—'प्रारम्भ में नायक के कुलशीलादि गुणों का वर्णन करते हुए तदनन्तर नायक द्वारा किये गये शत्रुओं के नाश के वर्णन की यह पद्धति स्वभावतः मनोरम होती है। किन्तु प्रथमतः शत्रु के कुलशील, विद्वत्त्व, शौर्य आदि का वर्णन करते हुए तत्पश्चात् उस पर नायक की विजय का वर्णन करना हमें अधिक सम्मत है। तात्पर्य, नायक के सर्वविध अभ्युदय एवं सर्वोच्च आदर्श का वर्णन हमें अधिक सुन्दर एवं सन्तोषप्रद प्रतीत होता है।'

दण्डी का अभिप्राय यह है कि, काव्य में प्रथमतः नायक का गुणवर्णन कर देने से वह (नायक) सहृदय के हृदय में स्थिर एवं आदर्श पद प्राप्त करता है और उसकी सहानुभूति एवं आदर का भाजन होता है। उसके पश्चात् उस नायक के द्वारा किये गये शत्रुसंहार के वर्णन को पढ़कर सहृदय को क्रमानुसारिणी काव्यरचना के आस्वादन का आह्लाद प्राप्त होता है और उसके मन पर बोध भी अङ्कित होता है। यद्यपि काव्य में नायक का उत्कर्षवर्णन अभीष्ट होता है, तथापि प्रतिनायक की उपेक्षा वांछित नहीं होती। क्योंकि पराक्रमी नायक के द्वारा न केवल तुल्य पराक्रमी अपितु अधिक पराक्रमी प्रतिनायक के वधवर्णन को पढ़कर सहृदय पाठक को चमत्कृतिजन्य आनन्द की विशेष अनुभूति होती है। साहित्यगत सौन्दर्य के इस नियम को ध्यान में रखते हुए ही दण्डी ने प्रतिपादित किया है कि, महाकवि को चाहिए कि वह नायक के शत्रु के कुलशीलवीर्यादि गुणों का भी सुविस्तृत वर्णन करे। इसके विषय में महाकवि को अपने मन में कोई भी पूर्वग्रह नहीं रखना चाहिए। कारण प्रतिनायक के गुण भी पाठक को ज्ञात होना परमावश्यक है। नायक के द्वारा ऐसे गुण-सम्पन्न एवं बलशाली प्रतिनायक के वध का वर्णन पढ़कर नायक के सामर्थ्यादि गुणों के प्रति पाठक का आदरभाव द्विगुणित होता है। इसके अतिरिक्त प्रतिनायक के गुणवर्णन में महाकवि को अपना प्रातिभ कौशल प्रदर्शित करना पड़ता है। नायक के गुणवर्णन से अधिक प्रकर्षपूर्ण प्रतिनायक के गुणवर्णन को पढ़कर पाठक के मन में कवि-

प्रतिभा के चमत्कारपूर्ण सामर्थ्य के विषय में विशेष आदर उत्पन्न होता है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, काव्य के 'शिल्प' के विषय में दण्डी का दृष्टिकोण बहुत ही मर्म-स्पर्शी एवं सूक्ष्म था। उसके इस मर्मग्राही दृष्टिकोण का परिचय 'भाविक' अलंकार के निरूपण में भी मिलता है। दण्डीकृत 'भाविक' का लक्षण इस प्रकार है--

'भाविकत्वमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धि यः स्थितः॥
परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना॥
व्यक्तिरुक्तिक्रमवशाद्गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद्भाविकं विदुः॥' २।३६१-३६३

अर्थात्—'विद्वानों का यह मत है कि, गद्य, पद्य अथवा मिश्रात्मक सम्पूर्ण प्रबन्ध में रहनेवाले विशिष्ट गुण को भाविक कहते हैं। कवि का अभिप्राय (अर्थात् प्रबन्धनिर्वाहक प्रयत्नविशेष) ही भाव है, जो काव्य के आरम्भ से अन्त तक साधनरूप में रहता है अर्थात् यह भाव प्रादेशिक न होकर प्रबन्धव्यापक होता है और इसीलिए वह उपमादि सप्रासङ्गिक अलंकारों का भी आश्रयदाता होता है)। प्रधान काव्य में होनेवाले नगरादि वर्णन अथवा उपसंविधानक एक दूसरे के पोषक होने चाहिए। (अर्थात् ये अंग एवं मुख्य काव्य में अङ्गाङ्गिभाव होना चाहिए)। काव्य के विविध अङ्गों के वर्णनों में प्रयुक्त विशेषण असमीचीन, अनुपयोगी अथवा अप्रस्तुत नहीं होने चाहिए। प्रसङ्ग पर ध्यान देकर ही वर्णन होने चाहिए। गम्भीर एवं दुर्बोध विषय का भी प्रासङ्गिक वर्णन सुविशद एवं सुबोध होना चाहिए अर्थात् उसके क्रमबद्ध वर्णन से ही आशय स्पष्टतया प्रकाशित होना चाहिए। ये सभी बातें सत्कवि के भाव पर ही निर्भर होती हैं, अर्थात् इन सभी बातों के विषय में कवि का भाव ही प्रमाण होता है और इसीलिए विद्वान् लोग उसे भाविक अलंकार कहते हैं।'

दण्डी का आशय यह है कि, महाकाव्य, नाटक, आख्यायिका आदि रचनाएँ प्रदीर्घ होती हैं। उनको प्रारंभ करने से पहले ही कवि अपना 'उद्देश्य' (अभिप्राय) सुनिश्चित कर लेता है और उसके अनुसार प्रदीर्घ रचना के सभी अङ्गों एवं उपाङ्गों की सजावट करता है। फलतः उन सभी अङ्गोपाङ्गों पर उक्त उद्देश्य की छाप रहती है जिससे समग्र रचना में एकरूपता या एकसूत्रता प्रतीत होती है। इसके विपरीत उक्त उद्देश्य के न रहने पर प्रदीर्घ रचना विशृङ्खलित-सी प्रतीत होती है। रामायण जैसे सुदीर्घ काव्यों में एक आधिकारिक (प्रमुख) और अन्य प्राकरणिक (गौण) कथावस्तुएँ होती हैं। गौण कथावस्तुओं का प्रमुख कथावस्तु से सम्बद्ध होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उनका प्रमुखोपकारक भी होना उतना ही आवश्यक है। प्रदीर्घ रचना में कोई भी अङ्ग अथवा

उपाङ्ग विगतार्थता, अनवसरप्राप्तता, कष्टप्रतीतिकारकता आदि दोषों से युक्त नहीं होना चाहिए। इन सभी दोषों का परिहार कविभाव के अधीन होता है और इसी लिए वह कविभाव काव्य के आरम्भ से अन्ततक विद्यमान रहता है। इन सब बातों पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि, दण्डीने दीर्घ काव्य के अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग में रहने वाले ऐक्य का बहुत ही सूक्ष्म एवं मार्मिक बुद्धि से विचार किया था।

९ वैदर्भ एवं गौड़ीय मार्गों के अनन्त भेद

लघुकाय एवं महाकाय काव्यों की रचना कवि की अभिरुचि तथा प्रतिभाशक्ति के अनुसार होती है। इस लिए यदि सभी महाकवि एकही विषय पर महाकाव्य लिखते हैं, तो भी उनमें से प्रत्येक की रचना विभिन्न होती है। घटनाओं एवं प्रसंगों की रचना करने की प्रत्येक कवि की पद्धति अलग-अलग होती है। सारांश, प्रत्येक कवि के साथ लेखन की शैली बदलती है। अर्थात् जितने कवि उतनी शैलियाँ इस सिद्धान्त को भी दण्डीने प्रतिपादित किया है। इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के पहले दण्डी ने लिखा है—

"अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।
तत्र वैदर्भगौडीयौ वर्ण्येते प्रस्फुटान्तरौ॥" १/४०

अर्थात्—'काव्यों के रचना प्रकार अगणित होते हैं। उनमें परस्परभेद अत्यन्त अल्प अथवा सूक्ष्म होता है (अर्थात् विभिन्न रचना प्रकार विजातीय होने पर भी गोगवयादिवत् परस्परसदृश होते हैं किन्तु इस नियम का अपवाद है—) उन अनेक रचनाप्रकारों में से वैदर्भ एवं गौड़ीय रचनाप्रकार ऐसे होते हैं कि उनमें रहनेवाला अन्तर सुस्पष्ट रूप से प्रतीत होता है। इन्हीं दो परस्परपृथक् रचनाप्रकारों का वर्णन अब करेंगे।'

दण्डी के विचारों का आशय यह है कि, वैदर्भ दाक्षिणात्यों का काव्यरचनाप्रकार है तो गौड़ीय पौरस्त्यों का। इन दोनों में अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। अर्थात् वैदर्भ एवं गौड़ीय स्पष्ट रूप से परस्पर-विसदृश रचनाप्रकार हैं। इसका और भी स्पष्टीकरण हम इस प्रकार कर सकते हैं कि, वैदर्भ दाक्षिणात्यों का स्वाभाविक मार्ग है, जैसे दक्षिण की ओर जानेका विशेष रास्ता। ठीक इसके विपरीत पौरस्त्यों का स्वाभाविक काव्यरचना-प्रकार होता है, जैसे पूर्व की ओर जाने का विशेष रास्ता। ये दो रचनाप्रकार विलक्षण अथवा पूर्ण रूप से परस्परभिन्न होते हैं, जैसे चन्द्र एवं सूर्य।

यद्यपि कभी-कभी वैदर्भ मार्ग के कुछ विशेष गौड़ीय मार्ग में और गौड़ीय मार्ग के कुछ विशेष वैदर्भ मार्ग में दिखायी देते हैं यह सत्य है, तथाऽपि प्रसंगवश, अल्प मात्रामें एवं कदाचित् दिखायी देनेवाले ऐसे विशेष उस मार्ग के स्वाभाविक विशेष नहीं होते। चन्दन मलय पर्वत पर होता है, इस लिए वह मलयज नाम से प्रसिद्ध है। वही चन्दन कभी-कभी दूसरे देशोंमें अथवा पर्वतोंपर भी पाया जाता है, किन्तु वह 'तज्ज'

नहीं माना जाता। देशान्तर में पाये जाने पर भी वह 'मलयज' ही कहलाता है। उसी प्रकार पौरस्त्य काव्य में कथञ्चित् प्रतीयमान दाक्षिणात्य विशेष दाक्षिणात्य ही होता है, पौरस्त्य नहीं, कारण वह दाक्षिणात्य का सहज धर्म होता है। इस प्रकार वैदर्भ एवं गौड़ीय रचना-प्रकार प्रकृतिविलक्षण हैं और इसी लिए दाक्षिणात्य एवं पौरस्त्य संज्ञाओं से पहचाने जाते हैं, जैसे दक्षिण देश की भाषा, पूर्व देश की भाषा इत्यादि। सारांश, दण्डीने उपर्युद्धृत पद्यमें (१) परस्परसदृश शैलियों और (२) परस्परविसदृश शैलियों का परामर्श किया है।

किन्तु दण्डी एतद्विषयक अपने विवेचन को यहीं समाप्त नहीं करता। वह इसी विषय को पल्लवित करते हुए कहता है —

"इति मार्गद्वयं भिन्नं तत्स्वरूपनिरूपणात्।
तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः॥"—१/१०१

अर्थात्—'उपर्युक्त प्रकार से वैदर्भ और गौड़ीय मार्गों के स्वरूप का जो निरूपण किया है उससे उन दोनों की भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। उन दोनों के अवान्तर भेद प्रत्येक कवि में पार्थक्य से रहने के कारण निरूपित नहीं किये जा सकते।'

दण्डीका अभिप्राय यह है कि, विदर्भमार्ग श्लेषादि स्वरूप है, तो गौड़ीय तद्विपरीत स्वरूप है। उन दोनों के विस्तृत विवेचन से दोनों की पृथक्ता सुविशद होती है। अर्थात्, इन दोनों में रहनेवाला भेद वास्तविक है, काल्पनिक नहीं। उन दो मार्गों के अवान्तर प्रकारों की गणना करना असम्भव है। कारण उन दो मार्गों का अनुसरण करने वाले कवियों की संख्या अगणित है। और उनमें से प्रत्येक कवि में कुछ न कुछ वैशिष्ट्य अवश्य रहता है। इस प्रकार कवि अनन्त होने से उक्त मार्गों के उपभेदों का साकल्येन विवरण करना असम्भव है। इसी आशय को निम्नलिखित दृष्टान्त से दण्डी ने परिपुष्ट किया है—

„इक्षुक्षीरगुडादीनां माधुर्यस्यान्तरं महत्।
तथापि न तदाख्यातुं सरस्वत्यापि शक्यते॥"—१/१०२

अर्थात्—'ईख, खीर, गुड़, आदि सभी पदार्थ मधुर होने पर भी उनके माधुर्य में बहुत अन्तर होता है। फिर भी उसका (प्रतिपदार्थगत भिन्न माधुर्य का) पार्थक्य से विवरण साक्षात् सरस्वती देवी भी नहीं कर सकती (तो भला हम मनुष्यप्राणी कैसे कर सकते हैं?)

दण्डी के उक्त दृष्टान्त का तात्पर्य यह है कि, उक्त मधुर पदार्थों के माधुर्य में स्पष्ट भेद होने पर भी वह वर्णनातीत है, कारण वह केवल अनुभवगम्य है। माधुर्य की उन विभिन्न छटाओं के लिए 'मधुर' यह सामान्य शब्द प्रयुक्त किया जाता है। यद्यपि

'यह खीर का माधुर्य', 'यह ईख का माधुर्य' आदि वाक्यप्रयोग किये जाते हैं, तथापि उन वाक्यप्रयोगोंसे तत्तत्पदार्थगत पृथक्पृथक् माधुर्य का बोध नहीं होता है, वह बोध तत्तत्पदार्थ के आस्वादन से ही होता है। मालती, गुलाब, चम्पक आदि पुष्पों के सुगन्ध में बहुत अन्तर होता है और वह घ्राणेन्द्रिय से ही प्रतीत होता है, शाब्दिक वर्णन से नहीं। यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि, वस्तु का स्वरूप वस्तु के प्रतिपादक शब्द से भिन्न होता है। अतः ईख, खीर आदि वस्तुओं के माधुर्य में होनेवाले भेद का वर्णन करने में साक्षात् सरस्वती देवी भी असमर्थ है। क्योंकि वह भी वाचकशब्दशक्ति को अन्यथा नहीं कर सकती। इसी प्रकार यद्यपि वैदर्भ एवं गौड़ीय मार्गों के भेदोपभेद वस्तुतः प्रत्येक कवि में होते हैं, तथापि वे अनन्त होने के कारण वर्णनातीत हैं। इसी लिए इन दो मार्गों की स्थूल विलक्षणता ही प्रतिपादित की गई है, सूक्ष्म विलक्षणता तो प्रतिपादनातीत ही है। वैसे भी किसी भी लक्षणशास्त्रीय ग्रन्थ में सकलभेदव्यापी सामान्यलक्षण को ही प्रतिपादित किया जाता है, उसके उपभेदों की गणना नहीं की जाती। प्रस्तुत ग्रन्थ भी काव्यलक्षणशास्त्रीय होने के कारण उसी सकलशास्त्रप्रयुक्त व्यवस्था को इसमें अङ्गीकृत किया है। तात्पर्य यह है कि, वैदर्भ एवं गौड़ीय इन दो परम्पर-विसदृश शैलियों के प्रतिकविस्थित भेद एवं उपभेद अगणित एवं अकथनीय होते हैं।

१०. अलंकारों की भी अनन्तता

दण्डीने शैलियों के विषय में जिस प्रकार यथार्थवादी दृष्टिकोण को अपनाया है, उसी प्रकार अलंकारों के विषय में भी यथार्थवादी विचारधारा को अङ्गीकृत किया है। उसकी एतद्विषयक विचारधारा निम्नलिखित पद्यों में मुखरित हुई है :—

'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।
ते चाद्यापि विकल्प्यन्ते कस्तान् कार्त्स्न्येन वक्ष्यति ॥
किं तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्।
तदेव प्रतिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः ॥'-२/१-२

अर्थात्—'विद्वान् लोग काव्य की शोभा को बढ़ानेवाले गुणविशेषों को अलङ्कार कहते हैं। उनके भेदोपभेदों की कल्पनाएँ अद्यापि की जाती हैं, इस लिए कौन पुरुष उनकी पूर्ण रूपसे गणना कर सकता है? किन्तु, उन अगणित अलङ्कारों में से प्रत्येक में रहनेवाले सामान्य रूप को प्राचीन आचार्यों ने प्रदर्शित किया है। उसी बीज अथवा सामान्य रूप को हम संक्षेप में यथामति स्पष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं।'

दण्डी का आशय यह है कि, अलङ्कार काव्य में सौन्दर्य को उत्पन्न करते हैं। प्राचीन काल के विचारकों ने उनके भेदोपभेदों की गणना करने का कार्य प्रारम्भ किया, किन्तु वह कार्य अभी भी समाप्त नहीं हुआ है। गणना का वह कार्य अभी भी हो रहा है। इसलिए उनकी अन्तिम सीमा अथवा मर्यादा अभी भी निश्चित नहीं हो पायी है।

अत एव अलङ्कारों की निरवशेष परिगणना करने में कोई भी समर्थ नहीं है। दण्डीने इसी विचार को पुनः एक बार प्रकट करते हुए लिखा है—

"पन्थाः स एष विवृतः परिमाणवृत्त्या
संक्षिप्य विस्तरमनन्तमलंक्रियाणाम्।
वाचामतीत्य विषयं परिवर्तमाना-
नभ्यास एव विवरीतुमलं विशेषान् ॥"—२/३६५

अर्थात्—'हमने काव्य के अलंकारों के अपरिमित विस्तार का संक्षेप कर उसके लक्ष्यलक्षणविकल्परूप का यह विवरण किया है। जो विशेष अलंकार वाणी को गोचर नहीं होते हैं, किन्तु वस्तुतः विद्यमान होते हैं, उनको प्रकाशित करने में केवल काव्याभ्यास ही समर्थ होता है।'

उक्त पद्य में दण्डीने अलंकारों की अनन्तता की कल्पना को स्पष्ट शब्दों में दोहराया है। दण्डीने अपने ग्रंथ में उपमादि कुल पैंतीस अलंकारों का साक्षात् निरूपण किया है। उस परिमित अलंकारविस्तार के अभ्यास का अनुसरण करने पर शेष अपरिमित अलंकार-विस्तार का ज्ञान सम्भव है। अब कुछ विशेष अलंकार ऐसे हैं कि, जिनका विवरण वाणी से नहीं हो सकता। उनका ज्ञान काव्यप्रयोग के अध्ययन से ही होता है। अलंकारों की अनन्तता के पार्श्व में इस प्रकार की कारणपरम्परा है—अलंकार माने उक्तिवैचित्र्य। उक्ति में उत्पन्न होने वाले वैचित्र्य अथवा चमत्कृतिजनकत्व के मूल में कल्पना होती है। इस कल्पना का जन्म कवि की बुद्धि में होता है और प्रत्येक कवि की बुद्धि भिन्न-भिन्न होने के कारण उसे विभिन्न कल्पनाएँ सूझती हैं। अर्थात्, कवियों की भिन्नता से कल्पनाओं की भिन्नता उत्पन्न होती है, कल्पनाओं की भिन्नता के कारण उक्तिगत वैचित्र्य उत्पन्न होता है और उक्तिगत वैचित्र्य के कारण अलंकारों की भिन्नता, विविधता एवं अनन्तता उत्पन्न होती है। सारांश, कवि की कल्पनाशक्ति अमर्यादित होने के कारण काव्यमें सौन्दर्य उत्पन्न करने वाले प्रसाधनों की अनन्तता अनिवार्य रूप से होती है।

इस प्रदीर्घ लेख के प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

(१) मनुष्य की वाणी सकलव्यवहारसाधक, अमोघ एवं प्रकाशरूप शक्ति है।

(२) उत्तम काव्य के प्रणयन एवं आस्वादन से उत्कट आनन्द एवं अक्षय कीर्ति की प्राप्ति होती है।

(३) काव्यशास्त्र काव्य के मर्मज्ञान के द्वारा काव्यानन्द की अनुभूति का एकमात्र साधन है।

(४) काव्यशास्त्रज्ञ एवं सदभिरुचिसम्पन्न सहृदय ही काव्य की सरसता एवं नीरसता का निर्णायक है।

(५) सरस्वती देवी की अव्यभिचारिणी उपासना से मनुष्य को सहृदयता प्राप्त होती है ।

(६) काव्य (अर्थात् ललित कलाओं) की समीक्षा काव्य (कला) दृष्टि से ही होनी चाहिए, नीरस एवं तर्ककठोर शास्त्रदृष्टि से नहीं ।

(७) काव्यगत वर्णन काव्यगत सौन्दर्य का संरक्षण एवं संवर्धन करने वाले होने चाहिए ।

(८) कथावस्तु के निवेदन में कवि को सौन्दर्य-पूजक एवं विशुद्ध साहित्यकलादृष्टि को अपनाना चाहिए ।

(९) काव्य में अन्तर्गत एवं बहिर्गत ऐक्य होना चाहिए ।

(१०) काव्यशैलियों के प्रतिकविस्थित भेदोपभेद संख्यातीत एवं अनन्त होते हैं ।

(११) काव्य में सौन्दर्यप्रसाधन, कविप्रतिभाप्रसूत होने के कारण, अनिवार्य रूप से अगणित होते हैं ।

क्षेमेन्द्र की समीक्षाशैली

प्रास्ताविक

यह बात सर्वविदित है कि, क्षेमेन्द्र ग्यारहवीं[1] शताब्दी का एक बहुप्रसू संस्कृत कवि एवं शास्त्रकार था। उसने अपनी कृतियों के द्वारा संस्कृत साहित्य को प्रभावित किया था। उसके द्वारा निर्मित साहित्य जितना विविध एवं विशाल[2] था, उतना ही विचारों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी। उसने दिव्य एवं लौकिक साधना विधि से सरस्वती की उपासना कर ग्रंथप्रणयन के द्वारा अक्षय कीर्ति प्राप्त की।[3] उसके ग्रन्थों में प्राचीन महाकाव्यों के पद्यात्मक रूपान्तर, उपदेशात्मक काव्य, कोश, कविशिक्षा, छन्दःशास्त्र, काव्यमीमांसा आदि विषयक छोटी-बड़ी लगभग चालीस[4] कृतियाँ समाविष्ट हैं। क्षेमेन्द्र-प्रणीत 'औचित्यविचारचर्चा' नामक प्रसिद्ध ग्रंथ काव्यतत्त्वविवेचनात्मक होने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। क्षेमेन्द्र ने उस ग्रंथ में 'औचित्य ही रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित अर्थात् प्राण है'[5], इस महासिद्धान्त को प्रस्थापित किया है। उसकी दृष्टि से औचित्य के बिना काव्य निर्जीव है, भले ही वह गुणों एवं अलंकारों से मण्डित ही क्यों न हो।[6] संक्षेप में उसकी यह अविचल एवं दृढ़ धारणा है कि, औचित्य नहीं तो काव्य भी नहीं (No propriety, no poetry)। अपनी इस धारणा को स्पष्ट करने के लिए उसने पद, वाक्य आदि अट्ठाईस काव्यांगों में रहनेवाले औचित्यतत्त्व[7] की अन्वय-व्यतिरेक से बड़ी मार्मिक चर्चा की है। उसने इन काव्याङ्गों को काव्य के मर्मस्थान[8] माने हैं। उसने अपनी चर्चा को सरस एवं हृदयंगम बनाने हेतु कुल एक सौ पाँच उदाहरणपद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें से साठ पद्य औचित्यपरिपोषात्मक होकर पैंतालीस औचित्यभङ्ग के निदर्शक हैं। इन पद्यों में भाषा[9] तथा साहित्यप्रकार[10] की दृष्टि से बहुत विविधता पायी जाती है और ये पद्य कालिदास, भवभूति, भट्टनारायण, राजशेखर, श्रीहर्ष, प्रवरसेन, अमरक, स्वयं क्षेमेन्द्र आदि प्रसिद्ध एवं प्रमुख कवियों के तथा श्यामल, मुक्तापीड़, श्रीचक्र, भट्टभल्लट, परिव्राजक, गङ्गक आदि अप्रसिद्ध अथवा अल्पप्रसिद्ध कवियों के भी हैं। क्षेमेन्द्र वास्तविक एवं पक्षनिरपेक्ष समीक्षक होने के कारण उसने प्रसिद्ध कवियों की केवल प्रशंसा और अप्रसिद्ध कवियों की केवल निन्दा अथवा कोरी आलोचना ही की हो, ऐसी बात नहीं है। उसने प्रसिद्ध कवियों के पद्यगत दोषों का उद्घाटन जितनी निर्भीकता से किया है, उतनी ही निर्भीकता से अप्रसिद्ध कवियों के पद्यगत गुणों का रसास्वादन भी (उतनी ही उत्कटता से) किया है। क्षेमेन्द्रकृत उदाहरणपद्यों की यह समीक्षा 'औचित्यविचारचर्चा' ग्रन्थ का एक बड़ा ही उज्ज्वल अङ्ग है। उसी का विशेष अनुशीलन करना प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है।

समीक्षा में सहानुभूति एवं सौन्दर्यदृष्टि

क्षेमेन्द्र द्वारा उद्धृत उदाहरण पद्यों की समीक्षा के कारण प्रस्तुत ग्रन्थगत तत्त्वचर्चा सुगम, सुबोध एवं रोचक हुई है। क्षेमेन्द्रकृत यह पद्य-समीक्षा सहानुभूतिपूर्ण एवं सौन्दर्य-दृष्टिसम्पन्न है। क्षेमेन्द्र स्वयं कवि है। उसने सर्वरसात्मक, भिन्नवृत्तामक एवं अनेक विषयक विशाल साहित्य का निर्माण किया है। उसने कवित्वशक्ति को परिश्रम-पूर्वक प्राप्त किया था, इसलिए उसने स्वकृतियों में व्यास-वाल्मीकि[११] आदि वन्द्य प्राचीन सत्कवियों के प्रति नितान्त श्रद्धाभाव को अभिव्यक्त किया है। औचित्य के निकष पर अन्य कवियों के पद्यों की समीक्षा करते समय वह अपनी उत्कट सहृदयता का परिचय देता है। उसने परिमल-विरचित 'मग्नानि द्विषतां......' इत्यादि पद्य का रसास्वादन करते समय 'सकलकविकुलललामभूतां विच्छित्तिमातनोति।'[१२] (सकल कविकुलविभूषण विलक्षण सौन्दर्य को प्रकट करता है) ऐसे उत्कट प्रशंसात्मक शब्दों का प्रयोग किया है। उसने श्रीहर्ष की रत्नावलि के 'परिम्लानं पीन...' इत्यादि सुप्रसिद्ध उक्ति को 'परममौचित्यं पुष्णाति।'[१३] शब्दों से गौरवान्वित किया है। क्षेमेन्द्र ने प्रबन्धार्थौचित्य के प्रसङ्ग में कालिदास के मेघदूत के 'जातं वंशे...' इत्यादि प्रसिद्ध पद्य को उद्धृत कर तद्गत सौंदर्य का वर्णन प्रफुल्लित वाणी में इस प्रकार किया है—'निरतिशयमौचित्यमुद्योतितम्।'[१४] (कालिदास ने इस पद्य में नितान्त औचित्य को प्रदर्शित किया है)। क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य के विवेचनप्रसङ्ग में श्रीहर्ष के 'उद्दामोत्कलिकां.....' इत्यादि पद्य को उद्धृत कर उस पद्य की सुन्दरता के उपलक्ष्य में 'नितरामौचित्यरुचिरचमत्कारकारिणी दीप्तिरुपपादिता।'[१५] (इस पद्य में कवि ने औचित्य के द्वारा सुन्दर चमत्कृतिजनक दीप्ति का आविष्कार किया है) शब्दों से श्रीहर्ष को मानो सम्मानित ही किया है। क्षेमेन्द्र की वृत्ति उदार, अभिरुचि सौन्दर्यैकानुकूला एवं उसका स्वभाव सहानुभूतिपूर्ण होने के कारण वह गौड़कुम्भकार जैसे किसी अप्रसिद्ध कवि के 'लाङ्गूलेन गभस्तिमान्....' इत्यादि पद्यगत गुणों का स्तवन भी 'औचित्यातिशयः प्रकाशितः।'[१६] (यहाँ औचित्य की अधिकता प्रदर्शित हुई है) इन शब्दों में ही करता है। परगुण ग्रहण करने में उसकी वाणी अप्रतिहत प्रतीत होती है, इसका कारण सम्भवतः यह होगा कि, क्षेमेन्द्र की दृष्टिमें समीक्षक काव्यनिर्माता का सुहृद् होता है, न कि शत्रु। इसी लिए क्षेमेन्द्रकृत ऐसी स्वस्थ समीक्षा को पढ़कर विचक्षण पाठक अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव करता है।

सूक्ष्म एवं मर्मस्पर्शिणी दृष्टि

किसी भी श्रेष्ठ समीक्षक में सौन्दर्यग्राहिणी दृष्टि के साथ ही विश्लेषणक्षम बुद्धि का होना भी नितान्त आवश्यक है। कवि अपनी उक्त बुद्धि से जीवनगत सुन्दरता एवं असुन्दरता के तारतम्य का आकलन करता है, तो समीक्षक कविनिर्मित सुन्दरता एवं असुन्दरता का विवेक करता है। इस प्रकार कवि एवं समीक्षक दोनों का कार्य बाह्यतः

यद्यपि परम्परभिन्न प्रतीत होता है, तथापि दोनों की कार्यपद्धति परस्परसमान होती है। दोनों ही अनुभव, विश्लेषण, चयन, चिन्तन, मूल्याङ्कन एवं वर्गीकरण करते हैं। कवि इतने बौद्धिक एवं मानसिक व्यापार के पश्चात् काव्य का निर्माण करता है, तो समीक्षक कविनिर्मित काव्य के मूल में रहनेवाले अनुभवों तक पहुँचता है। इस प्रकार दोनों के कार्य परस्परपूरक होने के कारण दोनों ही अत्यावश्यक होते हैं। जैसा पहले लिखा है, क्षेमेन्द्र ने अपने विचारों को विशद करने हेतु कुल एकसौ पाँच उदाहरणपद्यों को समुद्धृत किया है। उसने उनके मर्म का ग्रहण एवं उद्‌घाटन करते समय अपनी प्रखर एवं सूक्ष्म विश्लेषणशक्ति का बहुत ही अच्छा परिचय दिया है। उसने अन्य कवियों के ग्रंथों को न केवल भलीभाँति पढ़ा है, अपि तु उसने उनका बहुत ही सावधानतापूर्वक एवं मर्मस्पर्शिणी दृष्टि से सन्दर्भ के साथ परिशीलन किया है। इस तथ्य के प्रचुर प्रमाण उदाहरणपद्यों की गद्यरूप समीक्षा में सर्वत्र पाये जाते हैं। कालिदास के 'क्रोधं प्रभो संहर·····' इत्यादि पद्यगत 'भव' शब्द की सूक्ष्मेक्षिका से आलोचना करते समय क्षेमेन्द्र कहता है—'···भवनेत्रोद्‌भवः सः वह्निः मदनं भस्मराशिशेषमकार्षीद् इत्युक्ते संहारावसरे रुद्रस्य भवाभिधानमनुचितमेव ॥'[१७] (भगवान् शिव के तृतीय नेत्र की अग्नि ने कामदेव को भस्म कर दिया) इस वर्णन में संहार के प्रसङ्ग में 'रुद्र' आदि न कहकर 'भव' नाम का प्रयोग कर्मानुरूप न होने से अनुचित ही है।) यहाँ यह स्पष्ट होता है कि, क्षेमेन्द्र ने कालिदास के उक्त पद्य को शान्त चित्त से, पूर्वापरसन्दर्भ को ध्यान में रखते हुए और बहुत सूक्ष्म दृष्टि से पढ़ा है। उक्त पद्य नामौचित्य के विवेचन के अवसर पर उद्धृत किया गया है। इस सन्दर्भ में और एक उल्लेखनीय बात यह है कि, क्षेमेन्द्र ने नामौचित्य के परिपोष को स्पष्ट करने हेतु कालिदास के ही 'इदमसुलभ...'[१८] इत्यादि विक्रमोर्वशीय नाटकान्तर्गत पद्य का उदाहरण प्रस्तुत किया है, जिसमें कालिदास के द्वारा प्रयुक्त 'पञ्चबाण' संज्ञा के उचित होनेपर बड़ा ही सन्तोष व्यक्त किया है। राजशेखर-विरचित 'ज्यायान्धन्वी·····' इत्यादि पद्य का क्षेमेन्द्रकृत समालोचन उसकी तलस्पर्शिणी दृष्टि का और एक प्रमाण है। उक्त पद्य की आलोचना करते हुए क्षेमेन्द्र ने प्रतिपादित किया है, '···पेशलतया राघवावस्थायां जामदग्न्यावस्थाविपरीतायां प्रतिपाद्यमानायां ताटकाताडकेन इति विरुद्धाधिवासोऽर्थः किमप्यनौचित्येन चेतसि संकोचमादधाति।'[१९] (यहाँ रघुकुलोत्पन्न राम परशुराम की अपेक्षा सुकुमार है यह प्रतिपाद्य विषय है। उसमें राम का ताड़का-संहारी कहकर वीर बताना विरुद्ध अभिधान है। इस अनौचित्य से चित्त में संकोच उत्पन्न होता है।)। पुनः, राजशेखर ने ही 'कर्णाटी···'[२०] इत्यादि पद्य में पूर्वस्वीकृत क्रम का भङ्ग किया है ऐसा विवेचन बड़े बुद्धिचापल्य से किया है। क्षेमेन्द्र ने स्वरचित 'वरुणरणसमर्था···' इत्यादि पद्य में प्रताप के वर्णनप्रसङ्ग में भुजमण्डली शब्द को, जो स्त्रीलिङ्ग है, प्रयुक्त किया है। उस शब्द के कारण प्रताप की कठोरता ही अपहृत हो गई है, इस लिए उस शब्द का प्रयोग बहुत ही अनुचित है ('···प्रचण्डा मद्‌भुजमण्डली इति स्त्रीलिङ्गेन

निर्देशस्त्रैलोक्यविजयोर्जितस्य प्रतापस्य कठोरतामपहरन् अनौचित्यं सूचयति ।')[२१] इन शब्दों में बड़ी यथार्थ एवं मर्मग्राहिणी समीक्षा प्रस्तुत की है। 'यः प्रख्यातजवः······' इत्यादि स्वरचित पद्यगत 'स्मर्यते' शब्द की जो आलोचना क्षेमेन्द्र ने की है, वह उसकी सूक्ष्मेक्षिका की परिचायिका है। क्षेमेन्द्र ने इस सन्दर्भ में लिखा है—'···स्मर्यते इति क्रियापदेन शुकसारणाभ्यां रावणस्य दुर्नयाभिनिवेशिनस्तद्विरामाय हितोपदेशेन भवान् वसनकोणनियमिततनुः कक्षायां निःक्षिप्त इत्युचितयुक्तियुक्तमुक्तं भवति ।'[२२] (यहाँ 'क्या तुम्हें स्मरण है' इस क्रियापद से 'आप भी वस्त्र के एक छोर में बाँधकर बगल में रख लिए थे' यह तथ्य उचित रूप से व्यक्त हो जाता है।) धर्मकीर्तिरचित 'लावण्यद्रविण···' आदि काव्य में 'तन्व्याः' शब्द केवल अनुप्रास लोभ से प्रयुक्त हुआ है, वह किसी प्रकार के अर्थौचित्य के चमत्कार को प्रकट नहीं करता ('अत्र तन्व्याः इति पदं केवलशब्दानुप्रास-व्यसनितया निबद्धं न कांचिदर्थौचित्यचमत्कारकणिकामाविष्करोति ।'[२३]) इन शब्दों में क्षेमेन्द्र ने कविकृत प्रमाद का यथार्थ परामर्श किया है। राजशेखर ने 'नाले शौर्यमहोत्प-लस्य···' इत्यादि पद्य में दुर्योधन जैसे प्रख्यात योद्धा के कठोर भुजास्तंभों की तुलना कमल नाल से की है, जिसके कारण वाक्यार्थ बहुत ही उपहासास्पद बन गया है। क्षेमेन्द्र ने इस दोष को 'अत्रातिशयपरकर्कशसोत्कर्षसुभटभुजस्तम्भस्यासमुचितेन कुवलयनालतुलाधिरोपणेन वाक्यार्थः सोपहासतयेव निबद्धः परिज्ञायते ।'[२४] इन शब्दों में असन्दिग्धतया उद्घाटित किया है। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि, क्षेमेन्द्र ने अपने तथा अन्य कवियों के ग्रन्थों का बहुत ही सूक्ष्म दृष्टि से एवं रसग्रहिणी वृत्ति से अध्ययन किया था, जो सर्वथा प्रशंसनीय प्रतीत होता है।

विचारधारा पर दृढ़ निष्ठा

क्षेमेन्द्र की अपनी विचाराधारा पर अनन्य एवं दृढ़ निष्ठा है। यही उसकी समीक्षाशैली का तीसरा निर्देश योग्य विशेष है। किसी भी श्रेष्ठ समीक्षक का खास अपना समीक्षाविषयक दृष्टिकोण होता है। प्रत्येक आदर्श, सुसंस्कृत एवं निष्पक्ष समीक्षक का समीक्षा-तत्त्वज्ञान होता है। अनेक साहित्य-कृतियों के पठन, श्रवण, प्रेक्षण, चिन्तन एवं मनन से वह स्थिर एवं सुनिश्चित होता है। समीक्षक कलाकार एवं सहृदय के बीच का मध्यस्थ मात्र नहीं होता है। समीक्षक को साहित्य-कृतियों का अन्वयार्थ करना पड़ता है, उन कृतियों में रहनेवाले सौदर्न्य का अन्वेषण करना पड़ता है, दोषों को खोजना पड़ता है तथा प्रच्छन्न सौन्दर्य-स्थलों का मार्मिकतापूर्वक विश्लेषण एवं रसा-स्वादन करना पड़ता है। उसे एक ओर साहित्यकारों को विश्वास में लेकर, प्रसंग पड़ने पर कठोर शब्दों का भी प्रयोग करके, उनकी गलतियाँ दिखानी पड़ती हैं और दूसरी ओर पाठकों की अभिरुचि को भी प्रशिक्षित करना पड़ता है। साहित्य जीवनानुगामी होने से और जीवन गतिशील होने से साहित्य का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता है। उसका

प्रवाह अविच्छिन्नतया अनवरुद्ध एवं पुरोगामी होता है। उसमें कुछ नवीन मूल्य समाविष्ट होते हैं और प्राचीन मूल्यों का ह्रास भी होता है। साहित्यकार नये मूल्यों को स्वीकृत कर उनके अनुसार कुछ साहित्यिक प्रयोग[25] करके देखता है। समीक्षक को साहित्य के प्रतिकविस्थित स्वरूप का आकलन करना पड़ता है और प्रत्येक साहित्यकृति के प्रयोजन, प्रेरणा एवं पद्धति का अध्ययन तथा परिशीलन करना पड़ता है। जो समीक्षक साहित्य के इस परिवर्तनशील एवं सौन्दर्यगर्भ स्वरूप से समरस होकर भी अपना पृथगात्म दृष्टिकोण स्थिर एवं दृढ़ रख कर समीक्ष्य साहित्यकृति का रसास्वादन कर सकता है, वही पाठकों की अभिरुचि को परिष्कृत कर उनको प्रभावित कर सकता है। इस दृष्टि से क्षेमेन्द्र के समीक्षाकार्य के प्रति ध्यान देना आवश्यक है। क्षेमेन्द्र ने काव्यलक्षण, आदर्श काव्य, काव्यार्थ, काव्यप्रयोजन, कवित्वशक्ति, प्रतिभा, आदर्श कवि, कवियों के वर्ग, असामान्य कवि, सरस्वती, शब्द, काव्यगुण, काव्यदोष, काव्यालङ्कार, चमत्कार, काव्य की कथावस्तु, रस, नायक, पद्य, काव्य के प्रकार इत्यादि काव्यशास्त्रीय विषयोपविषयों का प्रचुर चिन्तन किया था। उसके एतद्विषयक विचार तद्द्वारा विरचित कविकण्ठाभरण, सुवृत्ततिलक एवं औचित्यविचारचर्चा आदि ग्रंथों में विस्तृत रूप में अभिव्यक्त हुए हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि, क्षेमेन्द्र का अपना स्वतन्त्र साहित्यविषयक तत्त्वज्ञान था। यह तत्त्वज्ञान अध्ययन, अध्यापन, चिन्तन, मनन, प्रेक्षण, श्रवण आदि के द्वारा उत्पन्न होकर स्थिर एवं दृढ़ हुआ था। इसी लिए उसमें स्वरचित तथा पररचित काव्यनाटकादिकों की समीक्षा विशुद्ध दृष्टिकोण से असन्दिग्ध शब्दों में करने की क्षमता थी। इसी विचारबिन्दु के परामर्श हेतु कतिपय उदाहरणपद्यों की समीक्षा पर विचार करेंगे।

धर्मकीर्ति के द्वारा रचित 'लावण्यद्रविण…' इत्यादि पद्य की क्षेमेन्द्रकृत समीक्षा जितनी सुस्पष्ट है, उतनी ही सन्तुलित। उस समीक्षा में उसकी अनाग्रही बुद्धि परिलक्षित होती है। प्रस्तुत विषयविवेचन की दृष्टि से उस समीक्षा का कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार है—'अत्र तन्व्याः इति पदं केवलशब्दानुप्रासव्यसनितया निबद्धं…। 'सुन्दर्याः' इत्यत्र पदमनुरूपं स्यात्। अन्यानि वा निरतिशयरूपलावण्यव्यञ्जकानि।…''[26] यहाँ समीक्षक क्षेमेन्द्र ने कविकृत प्रमाद को प्रदर्शित करते हुए उस प्रमाद के परिमार्जन एवं निराकरण के उपाय को भी, अनाग्रही होकर, प्रदर्शित किया है। इस प्रकार उसने कवि एवं पाठक दोनों का पथप्रदर्शन कर उनकी सहायता की है। कालिदास ने 'ऊरुमूलनखमार्ग…' इत्यादि कुमारसंभवगत पद्य में पार्वती के सम्भोग का वर्णन किया है। उसकी समीक्षा करते हुए क्षेमेन्द्र ने कितनी 'प्रखर' भाषा का प्रयोग किया है, देखिए—'अत्राम्बिकासम्भोगवर्णने पामरनारीसमुचितनिर्लज्जसज्जनखराजिविराजितोरुमूलहृतविलोचनत्वं त्रिलोचनस्य भगवतस्त्रिजगद्गुरोर्यदुक्तं तेनानौचित्यमेव परं प्रबन्धार्थः पुष्णाति।''[27]

(यहाँ पार्वती के संभोग का वर्णन है। पर पार्वती के ऊरुमूल में नखचिन्हों की पंक्ति बताना पामर नारियों के योग्य है और उस पर त्रिजगद् गुरु त्रिलोचन शिव का मोहित होना दिखाना परम अनुचित है। इससे यह प्रसंग अनौचित्य की पुष्टि करता है।) इस समीक्षा में क्षेमेन्द्र की 'दक्षता' का अच्छा परिचय प्राप्त होता है। किसी चन्द्रक नामक कवि ने 'खगोत्क्षिप्तैः...' इत्यादि पद्य में शृगाली की सुरतकेलितृप्त स्त्री से तुलना की है जिसको देखकर क्षेमेन्द्र त्वरित "शिवायाः सुरतकेलिक्लान्तकान्तया विच्छायैवोपमा परं वैपरीत्यं प्रकाशयति।"[२८] इन निर्भय शब्दों में कविकृत दोष को प्रकट करता है। श्यामल नामक कवि वृद्धा के चुम्बन के वर्णनप्रसङ्ग में कहता है कि, 'नायक वृद्ध स्त्री के मुखचुम्बन में लगा ही था कि नायिका का दाँत जड़ से उखड़ कर नायक के मुँह में गले तक पहुँच गया।'[२९] क्षेमेन्द्र ने इस पद्य की आलोचना करते हुए कठोर दृष्टान्त के साथ कहा है कि, यद्यपि यहाँ का हास्य रस बीभत्स रस से संयुक्त हुआ है, तथापि वह लहसुन में सने फूलों के गुच्छे की तरह अप्रिय हो गया है। प्रवरसेन के 'दणुइन्द...' इत्यादि प्राकृत पद्य में क्षेमेन्द्र की दृष्टि से रौद्र रस की ही नहीं, अपि तु उस रस के मुख की भी प्रतीति नहीं होती।[३०] क्षेमेन्द्र की यह समीक्षा न केवल असन्दिग्ध है, किन्तु प्रखर एवं कठोर भी है। क्षेमेन्द्र ने भवभूति के 'वृद्धास्ते...' इत्यादि प्रसिद्ध पद्य के अनौचित्य को प्रदर्शित करते समय '...वीर-रसस्य...स्ववचसा कविना विनाशः कृत इत्यनुचितमेतत्।'[३१] (कवि ने वीररस का नाश कर दिया है यह अनुचित है।) इन कड़े शब्दों का प्रयोग किया है। उसकी समीक्षा के विषय में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि, वह अन्य कवियों की समीक्षा, जितने असन्दिग्ध एवं कठोर शब्दों में करता है, उतने ही स्पष्ट एवं कठोर शब्दों में स्वरचित पद्यों की भी समीक्षा करता है। उदाहरण के लिए, उसने 'समस्ताश्चर्याणां' इत्यादि स्वीय पद्यगत अनौचित्य को 'अद्‌भुतप्रसरः सहसैवावरोपित इव तिरोभूततामुपगतः।'[३२] इन सुस्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है। इसी दृष्टि से उसके द्वारा की गई स्वरचित अन्य पद्यों की भी समीक्षा द्रष्टव्य है। क्षेमेन्द्र यह कार्य इसी लिए कर सका है, क्योंकि उसने प्रत्येक पद्य को पूर्वग्रहादुष्ट, पक्षपातरहित एवं स्वपरनिरपेक्ष शास्त्रकार की दृष्टि से परखा है। इस सम्बन्ध में हम निष्कर्षरूप में यह कह सकते हैं कि, स्वाभिमत समीक्षामूल्य पर क्षेमेन्द्र की दृढ़ श्रद्धा है और उसने उस समीक्षामूल्य की सहायता से स्वपररचित साहित्यकृतियों की पूर्वग्रहनिरपेक्ष एवं वस्तुनिष्ठ समीक्षा बहुत ही प्रामाणिकता से की है।

प्रसन्नमधुर वृत्ति

क्षेमेन्द्र की प्रसन्न एवं मधुर वृत्ति के कारण उसकी समीक्षा भी कतिपय स्थलों पर सरस काव्यसदृश आस्वाद्य हुई है। क्षेमेन्द्र समीक्षा-कार्य में स्पष्ट एवं असन्दिग्ध अवश्य है, किन्तु वह निर्दय अथवा क्रूर नहीं। वह सिद्धान्तरूप में यह मानता है कि,

काव्य की समीक्षा करना काव्य का निर्दयतापूर्ण विच्छेदन करना नहीं है। इसीलिए वह अपने अभिप्राय को ऐसे सुकोमल शब्दों में व्यक्त करता है जिससे सम्बद्ध कवि का हृदय व्यथित न हो। वह अनेक स्थानों पर कविकृत दोष को प्रकट करते समय रमणीय उपमा को प्रयुक्त करता है, जिससे दोषप्रदर्शक शब्दों की तीव्रता अथवा कटुता कम अनुभूत होती है। उदाहरण के लिए, चन्द्रककी 'युद्धेषु·····' आदि पद्यरचना ओजोगुणसे रहित है, यह प्रतीत होते ही क्षेमेन्द्र उसके विषय में अपने अभिप्रायको इन शब्दोंमें प्रदर्शित करता है'-अत्र क्षत्रवृत्तिरिवौजसा काव्यगुणेनास्पृष्टा सुभटोक्तिरुचितार्थापि तेजोजीवितविरहिता दुर्गतगृहदीपशिखेव मन्दायमाना न विद्योतते।''[33] (यह किसी योद्धा की उक्ति है। इसे क्षात्रवृत्ति के समान ओजगुण से युक्त होना चाहिए। यद्यपि इसका अर्थ उचित है, पर उचित गुण के अभाव में ऐसी मन्द पड़ गई है, जैसे दरिद्र घर की तेजोविहीन दीपशिखा।) यहाँ की उपमा चित्रमयी एवं समर्पक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। इसी प्रकार और एक स्थल भी द्रष्टव्य है। क्षेमेन्द्र इस विषय पर प्रकाश डालना चाहता है कि, अङ्गी रस का विरोधी भाव यदि परिपुष्ट न हो तो प्रधान का उपरोध नहीं होता। अपनी भूमिका को स्पष्ट करने हेतु 'माणं मुश्वध ''····' इत्यादि राजशेखरविरचित प्राकृत पद्य को उद्धृत कर तद्गत अनौचित्य का उद्घाटन करने हेतु कहता है—'विरुद्धवर्णनोदितेन ह्यनौचित्येन स्थायी कुञ्जर इव श्वभ्रपातितः पुनरुत्थातुं नोत्सहत इत्यलं विस्तरेण।'[34] (विरुद्ध भाव के वर्णन के अनौचित्य से तो गड्ढ़े में गिरे हाथी की भाँति प्रधान भाव फिर उठ नहीं सकता।) क्षेमेन्द्र के द्वारा प्रस्तुत उपमा नितान्त अनुपमेय एवं अनूठी है। कभी-कभी कतिपय कवि एवं उनके काव्य समीक्षक को सङ्कट में डालनेवाले होते हैं। उस कोटि के काव्यों की कठोर समीक्षा अवश्य ही कर्तव्य होती है, किन्तु वैसी समीक्षा सम्बद्ध कवि को व्यथित करने में कारण होती है। ऐसे सङ्कटसमयमें क्षेमेन्द्र की विनोदबुद्धि उसकी अच्छी सहायक होती है। उदाहरण के लिए, श्रीचक्र के 'देवो जानाति··· ···' इत्यादि पद्य में प्रयुक्त 'च' निपात पूर्णतया निरर्थक है। किन्तु वैसा स्पष्ट शब्दों में कहकर क्षेमेन्द्र श्रीचक्र को कुपित करना नहीं चाहता। अतः वह एक हास्यजनक उपमा का प्रयोग इस प्रकार करता है—

''अत्र····निरर्थक एव निरुपयोगश्चकारः प्रततोत्सवबहुजनभोजनपङ्क्तौ अपरिज्ञातः स्वयमेव मध्ये समुपविष्टः पश्चादभिव्यक्तः परं लज्जादुर्मना इवानौचित्यं प्रतनोति॥'[35] (यहाँ प्रयुक्त 'च' कार अर्थशून्य एवं अनुपयुक्त है। उसकी स्थिति ऐसी है जैसे किसी बड़े उत्सव के अवसर पर बहुजनभोजन की पङ्क्ति में कोई अज्ञात मनुष्य गुप्त रूपसे उपविष्ट होने के बाद पकड़े जानेपर लज्जा एवं उदासीनता का अनुभव करता है। अतः यहाँ 'च' पद के कारण अनौचित्य प्रकट होता है।) लोकव्यवहार के सूक्ष्म निरीक्षण पर आधृत यहाँ की उपमा जितनी मार्मिक एवं समीचीन है, उतनीही आल्हाददायक भी है। क्षेमेन्द्र की इस

हास्यप्रिय, मधुर एवं प्रसन्न वृत्ति के कारण उसकी समीक्षा रोचक एवं रंजक हुई है। अत एव क्षेमेन्द्र को संस्कृत काव्यसमीक्षकों की श्रेणी में अग्रगण्य मानना अनुचित न होगा।

प्रस्तुत निबन्धगत विवेचना के प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार हैं—

१. औचित्य ही काव्य का जीवित है, इस परम्परागत तत्त्व को क्षेमेन्द्र ने व्यापक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा प्रदान की है।

२. क्षेमेन्द्र ने उक्त सिद्धान्त को सुस्पष्ट, सुदृढ़ एवं सर्वग्राह्य करने हेतु स्वपररचित शताधिक पद्यों की, औचित्यमूल्य के निकष पर, समीक्षा की है।

३. उसकी समीक्षा में साहित्यकार के प्रति सहानुभूति, काव्यगत सौन्दर्य का अनुभव करनेवाली सूक्ष्म एवं भेदक दृष्टि, उपर्युक्त सिद्धान्त पर दृढ़ निष्ठा एवं प्रसन्नमधुर वृत्ति आदि उज्ज्वल गुण हैं। इन गुणों के कारण उसकी समीक्षा तात्त्विक, व्यावहारिक, मनोरंजक एवं काव्यसदृश आस्वाद्य हुई है।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. द्रष्टव्य'"his literary activity lay in the 2nd and 3rd quarters of the 11th century—" Dr. P. V. Kane, *History of Sanskrit Poeties*, Delhi, third revised edition, 1961, (अतःपर KSP संकेत से निर्दिष्ट), Part I, p. 266.

२. द्रष्टव्य—"क्षेमेन्द्र, a Kashmirian, was a voluminous writer and wrote on a variety of subjets." KSP, Part I, p. 264.

३. द्रष्टव्य—'कृत्वा निश्चलदैवपौरुषमयोपायं प्रसूत्यै गिरां।
क्षेमेन्द्रेण यदर्जितं शुभफलं तेनास्तु काव्यार्थिनाम्।'
क्षेमेन्द्र—**क्षेमेन्द्रलघुकाव्यसङ्ग्रहः** (अतःपर 'क्षेमेन्द्र' संकेत से निर्दिष्ट)—संपा० आर्येन्द्र शर्मा, ई० व्ही० व्ही० राघवाचार्य, और द० गो० पाध्ये, हैदराबाद, प्रथम संस्करण, १९६१, पृ० ८३

४. द्रष्टव्य—'Kṣemendra wrote some forty works."—क्षेमेन्द्र, Introduction p. 8.

५. 'औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।।'—क्षेमेन्द्र पृ० ११

६ 'औचित्यं त्वग्रे वक्ष्यमाणलक्षणं स्थिरमविनश्वरं जीवितं काव्यस्य, तेन विनाऽस्य गुणालंकारयुक्तस्यापि निर्जीवत्वात् ।'—तत्रैव

७. द्रष्टव्य—"पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलंकरणे रसे ।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे ।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते ।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे ।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नाम्न्यथाशिषि ।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम् ।।"—तत्रैव पृ० १२-१३

८. द्रष्टव्य—'एतेषु पदप्रभृतिषु स्थानेषु मर्मस्विव काव्यस्य सकलशरीरव्यापि जीवितमौचित्यं स्फुटत्वेन स्फुरदवभासते ।'—तत्रैव पृ० १३.

९. औचित्यविचारचर्चा में उद्धृत उदाहरणपद्यों में से ३ प्राकृत भाषा के हैं और शेष संस्कृत भाषा के ।

१०. कुल १०५ उदाहरणपद्यों में से १४ नाटकों के होकर शेष ९१ पद्य खण्डकाव्य, महाकाव्य, चरित्रकाव्य, मुक्तक, आदि के हैं ।

११. क्षेमेन्द्र की दृष्टि से महर्षि व्यास भुवनोपजीव्य कवि थे । द्रष्टव्य—'भुवनोपजीव्य यथा भगवान् व्यासः ।'—क्षेमेन्द्र पृ० ६८

१२. तत्रैव पृ० १३ १३. तत्रैव पृ० १४ १४. तत्रैव पृ० १६
१५. तत्रैव पृ० २२ १६. तत्रैव पृ० ३६-३७ १७. तत्रैव पृ० ६०
१८. तत्रैव पृ० ५९ १९. तत्रैव पृ० ५८ २०. तत्रैव पृ० ४८
२१. तत्रैव पृ० ४१ २२ तत्रैव पृ० ३४ २३. तत्रैव पृ० १४
२४. तत्रैव पृ० १५

२५. ध्वन्यालोक में उल्लिखित मुक्तक, सन्दानितक, विशेषक, कालापक, पर्यायबन्ध, परिकथा, सकलकथा, खण्डकथा, सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका एवं कथा आदि काव्यभेद संस्कृत साहित्यकारों के द्वारा किये गये विविध प्रयोग ही हैं ।
द्रष्टव्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतः ध्वन्यालोकः, विवरणकार बदरीनाथ शर्मा, भाषानुवादक शोभित मिश्र, चौखंबा, बनारस, द्वितीय संस्करण, ई० १९५३, पृ० २८२

२६. क्षेमेन्द्र पृ० १४ २७. तत्रैव पृ० १८ २८. तत्रैव पृ० २०
२९. तत्रैव पृ० २३ ३०. तत्रैव पृ० २५ ३१. तत्रैव पृ० २६
३२. तत्रैव पृ० २८ ३३. तत्रैव पृ० १९ ३४. तत्रैव पृ० ३३
३५. तत्रैव पृ० ४५

भाषिक समस्या : शोध तथा बोध

भाषाविषयक असन्तोष

विगत कुछ वर्षों में भारत में भाषाविषयक असन्तोष उत्पन्न हुआ। देश में भाषा के अनुकूल राज्यरचना हुई, फिर भी इस असन्तोष में कोई कमी नहीं हुई है। कुछ वर्षों के पूर्व तमिलनाडु में हिन्दी-विरोधी आन्दोलन हुआ, जिसकी स्मृतियाँ ताजी हैं। लोगों के सम्भाषणों में प्रयुक्त हिन्दी, मराठी, गुजराती, तेलुगु आदि सभी भाषाएँ शासनमान्य हैं। चूँकि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का स्थान एवं मान दिया गया है, इस लिए अन्य भाषा-भाषियों में यह आशङ्का उत्पन्न हुई है कि, हिन्दी भाषा हम लोगों पर थोपी जा रही है। इसी कारण बीच-बीच में हिन्दी के विरोध में आन्दोलन होते रहते हैं। अ-हिन्दी भाषी राज्यों में से दक्षिण भारतीय राज्य अंग्रेजी के समर्थक हैं। इसके विपरीत हिन्दी भाषी राज्यों में अंग्रेजी का विरोध है। कुछ वर्ष पूर्व केन्द्रिय सरकार ने घोषणा की थी कि, केन्द्रसंचालित विश्वविद्यालयों में राज्यभाषा के साथ-साथ अंग्रेजी भी शिक्षा का माध्यम रहे। केन्द्र सरकार के इस निर्णय के प्रकाशन के तुरन्त बाद हिन्दी भाषा एवं साहित्य की सेवा करने वाले एक विख्यात संस्थान ने एक बैठक में उक्त निर्णय का निषेध करते हुए यह प्रस्ताव पारित किया कि, हिन्दी ही भारत की सम्पर्क-भाषा होने की योग्यता रखती है और अन्य राज्यों के द्वारा उसका स्वीकार होना चाहिए। अंग्रेजी के विरोध के इस आन्दोलन ने आगे जाकर बहुत ही तीव्र एवं निषिद्ध रूप अपनाया। इस प्रकार देश में भाषिक प्रश्न के निमित्त गरम हवा किसी एक समय में बहती थी और बीच-बीच में बहती रहती है। यह समस्या गम्भीर होने के कारण उसकी ओर राष्ट्रपति से लेकर अध्यापकों तक सभी विचारशील व्यक्तियों का ध्यान आकृष्ट हुआ है। सभी विचारक इन प्रश्नों से क्षुब्ध हैं कि, विद्यापीठीय शिक्षा में माध्यमान्तर कैसे लाया जाए, अंग्रेजी के समर्थकों का मत-परिवर्तन कैसे किया जाए, सब भाषाओं के विकास के लिए प्रयत्न कैसे किये जाएँ और देश की एकता कैसे बनायी रखी जाए।

अध्येता के विचारतरङ्ग

इस पूरे दृश्य को देखकर किसी ग्रन्थालय के कोने में बैठकर प्राचीन भारतीय साहित्य एवं संस्कृति का परिशीलन करनेवाले निर्विकार और अलिप्त वृत्ति के अध्येता के मन में विचारों की अनेक लहरें उत्पन्न होती हैं। ऐसी बात नहीं है कि, भाषाओं की विविधता एवं विपुलता वर्तमान भारत में ही प्रतीत होती हो। प्राचीन तथा मध्य युग में

भी लोगों का व्यवहार अनेक भाषाओं में हुआ करता था। वेद काल में भी बोली अर्थात् प्राकृत भाषा का प्रचलन था[१]। वेदोत्तर काल में भी महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची आदि अनेक प्राकृत भाषाओं का निर्माण एवं प्रचलन हुआ। वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थापकों के द्वारा ही आरम्भ में संस्कृत के साथ प्राकृतों का भी पुरस्कार[२] किया गया। स्वाभाविकतया महावीर एवं गौतम बुद्ध ने अपने धार्मिक प्रवचनों के लिए प्राकृतों को अपनाया। महावीर ने अर्धमागधी को आश्रय दिया, तो बुद्ध ने पाली का अवलम्ब किया।[३] प्राकृत बहुजनसमाज की भाषाएँ थीं। वे जनभाषाएँ थीं। रुद्रट के काव्यालङ्कार का टिप्पणकार नमिसाधु प्राकृत के स्वरूप को विशद करते हुए कहता है—"सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहितसंस्कारः सहजो वचनव्यापारः प्रकृतिः। तत्र भवं सैव वा प्राकृतम्। 'आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा बाणी' इत्यादि वचनाद् वा प्राक्पूर्वं कृतं प्राकृतं बालमहिलादिसुबोधं सकलभाषानिबन्धनभूतं वचनमुच्यते। मेघनिर्मुक्तजलमिवैकस्वरूपं तदेव च देशविशेषात्संस्कारकरणाच्च समासादितविशेषं सत्संस्कृताद्युत्तरविभेदानाप्नोति। अत एव शास्त्रकृता प्राकृतमादौ निर्दिष्टं तदनु संस्कृतादीनि॥"[४] मेघखण्डों में से गिरने वाले जल के समान मूलतः एकरूप और आबालवृद्धसुलभ प्राकृत भाषा में ही समय के व्यतीत होने पर अङ्कुर पैदा हुए और वही प्राकृत भाषा विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न नामों से पहचानी जाने लगी। उदाहरण के लिए, महाराष्ट्र में प्रचलित प्राकृत को महाराष्ट्री कहते थे और वह सर्वोत्तम प्राकृत मानी जाती थी।[५] पाण्ड्य, पाञ्चाल, गौड़, मागध आदि ग्यारह पिशाचज देश माने जाते हैं। कैकय, शौरसेन एवं पाञ्चाल पैशाची बोलियों के निर्देश पाये जाते हैं।[६] इनके अतिरिक्त प्राच्या, अवन्ती, शाकारी, चाण्डाली, शाबरी, टक्कदेशी, नागरक, व्राचड़, उपनागर आदि अन्य अनेक भाषाओं का वर्णन एवं विवरण प्राकृत व्याकरणों में पाया जाता है।[७] सन् ४०० ई० के लगभग प्राकृतों की अपभ्रंश नामक बोली का उदय हुआ और उससे विद्यमान भारतीय भाषाओं के पूर्वकालिक रूप आविर्भूत हुए।[८] ये पूर्वकालिक रूप सन् १००० ई० के लगभग स्थिर हुए और उन्हें देशी भाषा का पद प्राप्त हुआ।[९] प्राचीन मराठी, गुजराती, ब्रज, आदि भाषाएँ उनके पूर्ववर्ती अपभ्रंशों से उत्क्रान्त हुईं और लोकव्यवहार की भाषाएँ बन गईं। इस प्रकार प्राचीन समय की प्राकृत, तदुत्तरकालीन अपभ्रंश और मध्य युग की देशी भाषाएँ लोकभाषाओं के रूप में स्वीकृतिप्राप्त थीं और जनता के आहारविहारादि समस्त व्यवहार उन भाषाओं के माध्यम से सम्पन्न होते थे। उसी समय में संस्कृत भाषा न केवल जीवित थी, अपि तु उसकी सहायता से शिष्टों, सुविद्यों एवं सुसंस्कृतों के व्यवहार हुआ करते थे। अब प्रश्न उठता है कि, संस्कृत से प्राकृतादि भाषाओं के सम्बन्ध कैसे थे? आजकल जैसी भाषिक 'आँधी' आयी है, उस समय में भी क्या इस प्रकार की 'आँधी' आयी थी? प्राचीन राजामहाराजा संस्कृत कवियों के आश्रयदाता थे, यह बात सर्वविदित है। उन राजाओं का प्राकृत विद्वानों के विषय में दृष्टिकोण क्या था?

क्या प्राकृत में निर्मित साहित्य अध्ययन-अध्यापन का विषय हो सका था ? यदि था तो, उसका अध्ययन करने वाले कौन थे ? संस्कृत विद्वानों के मन में प्राकृत पण्डितों के प्रति आदर की भावना थी अथवा अनादर की ? क्या संस्कृत पण्डितों के द्वारा कभी प्राकृत की सेवा हुई थी ? प्राकृत के विद्वान् संस्कृत पण्डितों के प्रति किस दृष्टिकोण को अपनाते थे ? क्या प्राकृत काव्यों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं जाती थीं ? ये और इस प्रकार के विभिन्न प्रश्न तटस्थ वृत्ति के अध्येता के मन में जागृत होते हैं। साथ ही साथ उसके मन में यह भी विचार आता है कि, क्या प्राचीन परिस्थिति में स्वीकृत मार्ग विद्यमान परिस्थिति में हमारी भाषाविषयक समस्याओं को सुलझाने में सहायता कर सकते हैं ? इन प्रश्नों का परामर्श करना इस निबन्ध का उद्देश्य है।

प्राकृत भाषाएँ एवं राजाश्रय

यह बात सर्वविदित है कि, अनेक संस्कृत कवि प्राचीन राजाओं के आश्रित थे। उदाहरण के लिए, भास, अश्वघोष, कालिदास, बाणभट्ट, भट्टनारायण, भवभूति, जयदेव, पद्मगुप्त और व्रजनाथ क्रमशः राजसिंह, कनिष्क, विक्रमादित्य, हर्षवर्धन, आदिशूर, यशोवर्मन्, लक्ष्मणसेन, सिन्धुराज और माधवसिंह नामक राजाओं के आश्रित थे। इसी तरह अनेक प्राचीन एवं मध्ययुग के राजाओं का प्रश्रय प्राकृत भाषा एवं साहित्य को भी प्राप्त था। हाल, कर्ण, प्रवरसेन, सर्वसेन, मान, देवराज, वाक्पतिराज प्रभृति राजाओं एवं राजपुत्रों ने प्राकृत भाषा में गाथाओं, महाकाव्यों, आख्यायिकाओं आदि का निर्माण कर लोकभाषा के पक्ष का समर्थन किया था।[१०] नीचे उद्धृत उक्ति के आधार पर हम कह सकते हैं कि, सातवाहन ने अपने दरबार में पालित नामक कवि को सम्मान का स्थान प्रदान किया था—

'हालेनोत्तमपूजया कविवृषा श्रीपालितो लालितः॥'

राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में इस हाल सातवाहन के सम्बन्ध में जनश्रुति इस प्रकार उल्लिखित की है—'श्रूयते च कुन्तलेषु सातवाहनो नाम राजा, तेन प्राकृत-भाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।'[११] यह जनश्रुति इस बात को प्रमाणित करती है कि, सातवाहन राजा प्राकृत भाषा का कट्टर पुरस्कर्ता एवं पक्षपाती था। हालसंकलित गाथाओं के आधुनिक सम्पादक श्री जोगलेकर लिखते हैं कि, आढ्यराज राजा के काल में सम्पूर्ण प्रजा प्राकृत भाषा बोलनेवाली थीं।[१२] काव्यपरीक्षा के लिए निर्मित सभागृह में उत्तर दिशा में संस्कृत कवि, पूर्व दिशा में प्राकृत कवि, पश्चिम दिशा में अपभ्रंश कवि और दक्षिण दिशा में भूतभाषा के कवि बैठते थे, यह बात राजशेखर के निर्देशों से ज्ञात होती है।[१३] राजशेखरकृत ये निर्देश इस दृष्टि से महत्त्व के हैं कि, इनके द्वारा यह स्पष्ट होता है कि, काव्य की परीक्षा के समय संस्कृत कवियों के अतिरिक्त प्राकृत, अपभ्रंश एवं

पैशाची भाषाओं में काव्य का निर्माण करनेवाले कवियों को भी निमन्त्रित किया जाता था। राजाओं के द्वारा प्राकृत कवियों को संस्कृत कवियों के समान स्थान प्रदान किया जाता था, यह बात महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन राजा जनसाधारण की भाषाओं को, उन भाषाओं में विविध शिलालेखों को उत्कीर्ण करा कर, सम्मानित किया करते थे। डॉ० गौरीनाथ शास्त्री के प्रतिपादन के अनुसार ई० पू० पंचम शताब्दी का पिप्रावा का शिलालेख प्राकृत में था।[१४] ई० पू० तीसरी शताब्दी का सोहगौर का ताम्रपट भी प्राकृत में ही था। ईसा के पूर्वकाल में संस्कृत भाषा एवं साहित्य दोनों वैभव के शिखर पर थे।[१५] फिर भी सम्राट् अशोक ने गिरनार, कालसी, धौली, मनसेहरा, येर्रगुड़ी, सोपारा आदि स्थानों में पाली भाषा में ही शिलालेखों को उत्कीर्ण कराया और जनता की भाषा को सम्मानित किया[१६] राजा खारवेल का हाथी गुंफा का शिलालेख प्राकृत में ही है। डॉ० वरदाचारी[१७] का कहना है कि, नासिक के सिरि पुलुयामी के शिलालेख में मूल संस्कृत आदेशों का प्राकृत में रूपान्तर पाया जाता है। क्रिस्तोत्तर पंचम शताब्दी तक शिलालेखों का उत्कीर्णन प्राकृत में हुआ करता था।[१८] इन बातों से यह स्पष्ट होता है कि, प्राकृत भाषाओं को संस्कृत की समकक्षता प्राचीनकाल में ही प्राप्त हो चुकी थी।

अनुकूल साहित्यिक वातावरण

प्राकृत भाषाओं एवं उनके साहित्य की अभिवृद्धि में तत्कालीन अनुकूल साहित्यिक वातावरण से अनुकूलता प्राप्त हुई। फलतः प्राकृत साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। गाथासप्तशती के अनेकविध उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि, उस समय का साहित्यिक वातावरण सम्पन्न था। गाथाओं में कवियों, उनके द्वारा रचित काव्यों तथा गाथाओं के निर्देश पगपग पर पाये जाते हैं। शिक्षित रसिक काव्यों का पठन एवं रसग्रहण करते थे और अशिक्षित महिलाओं को आख्यानों को पढ़कर सुनाते थे। पण्डितों एवं शास्त्रियों के उल्लेख भी उसमें प्राप्त होते हैं। क्वचित् गाथाओं में कवित्व और पाण्डित्य के बीच का संघर्ष भी शब्दांकित हुआ है। रसिक, अरसिक, कलाकार आदि वर्गों के निर्देश भी उपलब्ध होते हैं।[१९] वात्स्यायन के कामसूत्रों में तत्कालीन नागरक के जीवन का जो वर्णन आया है उससे उसकी सुविद्यता, सुसंस्कृतता, साहित्यादि कलाओं की अभिज्ञता आदि अनेक बातोंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।[२०] मध्य युग के राजाओं के द्वारा, देशी भाषाओं के उत्कर्ष के पश्चात्, कला के अनुकूल वातावरण का पोषण निरन्तर होता रहा। उदाहरण के लिए, बंगाल के लक्ष्मणसेन नामक राजाने उमापतिधर, धोयी, गोवर्धन, जयदेव प्रभृति कवियों को आश्रय दिया था। डॉ० कृष्णम्माचारियर[२१] ने केरल के मध्ययुगीय साहित्यिक वातावरण के सम्बन्ध में बड़ी ही रोचक कहानी कही है। वे कहते हैं कि, पंद्रहवीं सदी में मानविक्रम नामक झामोरिन के दरबार में साढ़े-अठारह कवि थे। उनमें से अठारह कवि संस्कृत भाषा में काव्य लिखते थे। पुन्नट्टु नम्बूद्री नामक कवि मल्यालम् एवं संस्कृत का मिश्रण कर काव्य की रचना करता

था। इस लिए उसको 'आधा' कवि कहते थे। फिर भी वह संस्कृत के कवियों के समान माना जाता था। साहित्यिक वातावरण को बनाये रखने में मुसलमान राजाओं ने भी योगदान दिया था। उदाहरण के लिए, काश्मीर के जैनुलाब्दीन बड़शाह (सन् १४२१-१४७६ ई०) ने जोनराज एवं श्रीवर नामक कवि-इतिहासकारों को अपने दरबार में सम्मान के साथ रखा था।[२२] न केवल मध्य युग में अपि तु अठारहवीं सदी में भी कवि, संगीतकार, नर्तक आदि कलाकार कलासम्पन्न तथा कला के अनुरूप वातावरण में थे। इसकी पुष्टि में त्रावणकोर के तिरुनाल रामवर्मन् नामक राजा के समय का वर्णन उद्धृत किया जा सकता है। वह वर्णन इस प्रकार है—

'गहनपदपदार्थज्ञानविज्ञानदक्षैः
अमरगुरुसमानैरर्थशास्त्रप्रवीणैः।
सरसगुणकवीन्द्रैर्वाक्प्रसङ्गे विदग्धैः
प्रतिदिनमतिरम्या शोभते राजधानी॥
श्रुतिमुखरसगीतैर्वेणुवाद्यैर्मनोज्ञैः
चिरपरिचयहस्ताभ्यासतः प्राप्तभावैः।
मदनरतिसमानैरद्भुताकारपात्रै-
स्तकतकतकशब्दैस्तालमार्गानुकारैः॥
नटनगतिविलासोल्लासचञ्चत्कटाक्षैः
लयगतिमनुसृत्योद्घट्टिताङ्घ्रिप्रचारैः।
सरसकरविलासैर्हावभावप्रकर्षैः
जयति नृपसमाजो रङ्गलक्ष्मीनिवासः॥[२३]

संक्षेप में, चारों ओर का वातावरण 'रससम्पन्न' होने से प्राकृत भाषाएँ शीघ्र ही सुस्थिर, विकसित एवं समृद्ध हुईं। उन भाषाओं में संस्कृत के समान, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद कामशास्त्र, कोश, छन्दःशास्त्र, द्रव्यपरीक्षाशास्त्र, धातुशास्त्र, निमित्तशास्त्र, मणिशास्त्र, रिष्टशास्त्र, व्याकरणशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि के विषयों पर ग्रन्थों का प्रणयन हुआ। इसके अतिरिक्त उपदेशपरक काव्य, चरित्रग्रन्थ, प्रबन्ध, कथाएँ, भक्तिकाव्य, भावकाव्य, महाकाव्य, सन्देशकाव्य, स्तोत्रकाव्य, सट्टक आदि की भी विपुल रचनाएँ हुईं। प्राकृत भाषा तथा साहित्य की यह अभिवृद्धि संस्कृत भाषा एवं साहित्य के रहने पर भी हो रही थी, यह बात विशेषतया संस्मरणीय है।

प्राकृत भाषा अध्ययन का विषय बनी

चूँकि प्राकृत भाषाएँ जनसाधारण की भाषाएँ थीं, चूँकि उन्हें राजाश्रय प्राप्त हुआ था, चूँकि उनमें विविध, विपुल एवं सरस साहित्य का निर्माण हुआ था और हो

भी रहा था और चूँकि प्राकृतों को लोकमानस[२४] में दृढ़ स्थान प्राप्त हुआ था, इसलिए संस्कृतज्ञों को बाध्य होकर प्राकृतों के प्रति ध्यान देना पड़ा। यह कहना अधिक योग्य होगा कि, संस्कृतज्ञों की भूमिका उदारता, समंजसता और सहिष्णुता की होने के कारण उन्होंने प्राकृत भाषाओं, कवियों तथा उनकी कृतियों का हार्दिक स्वागत किया। प्राकृत भाषाओं में निबद्ध साहित्य रसिकों के आस्वाद, काव्यशास्त्रज्ञों के विवेचन तथा जनसाधारण की प्रियता का विषय बन बैठा। संस्कृत काव्य के साथ-साथ प्राकृत काव्य का भी अध्ययन विद्यालयों में होने लगा। संक्षेप में, प्राकृत भाषाएँ एवं रचनाएँ रसास्वाद, चर्चा, समीक्षा तथा विवेचन-अध्ययन का विषय हुईं। इस विषय में प्रमाण ये हैं—

(अ) **हस्तलिखितों की अनेकता**—प्राकृत कथाकाव्य, भावकाव्य आदि की अनेक पाण्डुलिपियाँ भारत के विभिन्न नगरों में स्थित हस्तलिखित-पुस्तकालयों में प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए, हाल की गाथासप्तशती की हस्तलिखित प्रतियाँ काश्मीर-नेपाल से लेकर मलबार तक सभी जगह प्राप्त होती हैं।[२५] प्रवरसेनकृत 'सेतुबन्ध' शीर्षक महाकाव्य की असंख्य हस्तलिखित प्रतियाँ देशी तथा विदेशी ग्रन्थालयों में सुरक्षित हैं।[२६] इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि, संस्कृत साहित्य एवं भाषा के उत्कर्ष-समय में भी प्राकृत काव्यों का रसिक पाठक-वर्ग विशाल था और वह बड़े उत्साह एवं आतुरता से प्राकृत काव्यों का रसास्वादन करता था।

(आ) **प्राकृत काव्यों का अध्ययन**—डॉ० दशरथ शर्मा ने अपने "Sanskrit Authors studied in Rājaputanā in the 12th and 13th centuries" शीर्षक लेख[२७] में यह बतलाया है कि, कालिदासादि संस्कृत कवियों के काव्यों के साथ ही वाक्पतिराज (गउड़वहो काव्य का कर्ता) के प्राकृत काव्य का भी अध्ययन निष्ठा से हुआ करता था। सत्रहवीं शताब्दी में बंगाल में भी संस्कृत के साथ प्राकृत साहित्य का हृदय से अध्ययन करनेवाला रसिक वर्ग था। रामशर्मन् और मार्कण्डेय पौरस्त्य प्राकृत व्याकरणकार थे। वे अपने ग्रन्थों में सेतुबन्ध-प्रभृति अनेक प्राकृत ग्रन्थों की सूक्तियों को उद्धृत करते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि, उस समय के बंगाली विद्वान् प्राकृत महाकाव्यों का पठन-पाठन करते थे।[२८] डॉ० गोडे[२९] का कथन है कि, गुजरात में पाटण-स्थित संघवी पाड़ा भाण्डार में प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रन्थों की अनेक पाण्डुलिपियाँ रखी हुई हैं।

(इ) **काव्य के वर्ग में प्राकृत को स्थान**—संस्कृत काव्यशास्त्रज्ञों के द्वारा काव्यों का वर्गीकरण अनेक प्रकारों से किया गया था। भरतने[३०] पाठ्य के प्रकारों को बतलाते समय संस्कृत के साथ प्राकृत को भी स्थान दिया था। भरतोत्तर

भामह ने[31] भी काव्य की गद्य एवं पद्य विधाओं के निर्देश के अनन्तर प्राकृत और अपभ्रंश का भी उल्लेख किया था। दण्डी ने नीचे उद्धृत उक्ति में साहित्य के चार प्रकारों की गणना की है—

'तदिदं वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रं चेत्याहुराप्ताश्चतुर्विधम् ॥'—काल १/३२

दण्डी के बाद के रुद्रट[32] ने प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाच, सूरसेन एवं अपभ्रंश भाषानिबद्ध साहित्य का निर्देश किया है। विश्वनाथ के द्वारा साहित्यदर्पण में उल्लिखित १६ भाषाओं का निर्देश सर्वप्रसिद्ध ही है। तात्पर्य, संस्कृत काव्यशास्त्रज्ञों ने संस्कृतेतर प्राकृत भाषाओं को अपनी व्यवस्था में स्थान दे कर भारतीय साहित्य के सन्दर्भ में प्राकृत साहित्य को समुचित एवं न्यायोचित सम्मान प्रदान किया है और अपनी इस कृति के द्वारा अपनी व्यापक बुद्धि एवं उदार वृत्ति का भी परिचय दिया है।

(ई) **काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राकृत**—भारतीय काव्यशास्त्रकारों ने प्राकृत भाषामें निबद्ध साहित्य को केवल मान्यता दी ऐसी बात नहीं है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में प्राकृत काव्यों के उद्धरण देकर अपनी प्रगतिशीलता प्रदर्शित की है। ध्वन्यालोक, दशरूपक, श्रृंगारप्रकाश, सरस्वतीकण्ठाभरण आदि काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में उद्धृत प्राकृत पद्यों की संख्या ४९७ है और उनका काव्यों के अनुसार वर्गीकरण डॉ० जैन[33] के अध्ययन के अनुसार, इस प्रकार है—

गाथासप्तशती की १४५ गाथाएँ, सेतुबन्ध की ३६, गउड़वहो की १, शाकुन्तल के २ प्राकृत पद्य, बज्जालग्गा का १, मृच्छकटिक का १, कुवलयाश्वचरित का १, कर्पूर-मञ्जरी के ७, मधुमथनविजय का १, विषमबाणलीला के ५, रत्नावलि के २ और अवशिष्ट अज्ञातकर्तृक हैं। शास्त्रज्ञों के द्वारा उपमादि अलङ्कार, उदारतादि गुण, अपक्रमादि दोष, उपमाध्वन्यादि ध्वनिच्छटाएँ, उदात्ता-प्रभृति नायिका-भेद, हर्षादि भाव, मागध्यादि रीतियाँ, और औचित्यभंगादि संकीर्ण काव्यांग आदि विषयों के स्पष्टीकरण हेतु प्राकृत काव्यों के उद्धरण दिये गये हैं। इस सन्दर्भ में दो महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। एक बात यह है कि, उपर्युक्त विषयों के निदर्शक उदाहरण संस्कृत काव्यों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध थे। दूसरी बात यह है कि, शास्त्रकार स्वयं रचना करने में समर्थ थे। इन दो बातों के होते हुए भी उन्होंने प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया है। इससे उनकी निष्पक्ष एवं साहित्यमूल्यैक दृष्टि का बोध होता है। उन्होंने साहित्य की भाषा को कदापि महत्त्व नहीं दिया। काव्य का निर्माण किसी भी भारतीय भाषा में हुआ हो, यदि वह काव्य कलाकी दृष्टि से सरस है तो उसका स्वीकार एवं गौरव किया

जाय, यही उनका शुद्ध एवं स्पृहणीय दृष्टिकोण था। उनकी दृष्टि में प्राकृत साहित्य कभी भी पंक्तिबाह्य नहीं था। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि, संस्कृत काव्यशास्त्रज्ञ जिस आत्मीयता, निष्ठा एवं आदर से संस्कृत काव्यों का अध्ययन किया करते थे, उसी आत्मीयता, निष्ठा एवं आदर से वे प्राकृत काव्यों का भी परिशीलन किया करते थे। इस प्रकार प्राकृत भाषाएँ एवं काव्य, छात्रों के अध्ययन, पण्डितों के अध्यापन तथा रसिकों के रसास्वादन के विषय हुए थे।

(उ) प्राकृत काव्य के संकेत एवं नियम

चिन्तनविषय के रूप में प्राकृत काव्यों का स्वीकार हो जाने के पश्चात् शास्त्रकारों ने अपनी स्थायी प्रथा के अनुसार प्राकृत साहित्य का विभाजन आदि करके उसके नियमों को निश्चित किया। उदाहरण के लिए, प्राकृत में निबद्ध काव्य के अंशों को 'स्कंधक' कहा जाए, अपभ्रंश में निविष्ट काव्य का निर्माण ओसर नामक छंद में हो, नाटकों की रचना मिश्र हो।[३४] कथाओं की रचना संस्कृत के साथ अपभ्रंश एवं प्राकृत भाषाओं में भी हुआ करती थी।[३५] दण्डी ने प्रतिपादित किया है कि, कथा की रचना सब भाषाओं में हो।[३६] दण्डी के इस नियम से एक ओर कथा के संचार-विहार के क्षेत्र की व्याप्ति बढ़ी और दूसरी ओर प्राकृत की महिमा भी बढ़ी। प्राकृत कथा, संस्कृत कथा के समान, गुणालंकारों एवं ललित पदों से मण्डित होने लगी, रमणीय वर्णनों के द्वारा सहृदयों को मोहित करने लगी और सरस प्रेमाख्यान्यों से रसिकों को आनन्द की अनुभूति प्रदान करने लगी। प्राकृत भावकविता सालंकृत होकर, संस्कृत भावकविता के समान, रसिकों को परमाह्लादित करने लगी। प्राकृत कवि संस्कृत कवियों के समान, महाकाव्य के संकेतों का पालन करने लगे। प्राकृत में भी, संस्कृत के समान, मुक्तकों से लेकर महाकाव्यों तक का निर्माण प्रचुर मात्रा में होने लगा। तात्पर्य, संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएँ एवं साहित्य एक दूसरे के सन्निकट आये और दोनों में प्रगाढ़ मित्रता उत्पन्न हुई। संस्कृत-प्राकृत के इस सम्पर्क से दोनों प्रभावित हुए। उदाहरण के लिए, प्राकृत गाथाओं का अनुकरण कर अमरक ने संस्कृत में अमरुशतक की रचना की और गोवर्धन ने आर्यासप्तशती की सिद्धि की।[३७] प्रवरसेन रचित सेतुबन्ध काव्य का प्रभाव संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में निबद्ध रचनाओं पर पड़ा।

संस्कृतज्ञों की प्राकृत रचनाएँ

संस्कृत-प्राकृत में विनिमय और एक दिशा में भी हुआ। उसका भी परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। पहले यहाँ हम इस बात पर ध्यान देंगे कि संस्कृत पण्डितों के द्वारा निराग्रही वृत्ति से प्राकृत भाषा एवं साहित्य की सेवा किस प्रकार हुई थी। संस्कृत पण्डितों ने प्राकृत भाषा में रमणीय तथा शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना की थी। पहले

संस्कृत पण्डितों द्वारा रचित रमणीय ग्रंथों की जानकारी प्राप्त करेंगे। संस्कृत पण्डित राजशेखर ने चतुर्विंशतिप्रबन्ध तथा वस्तुपालप्रबन्ध इन दो ग्रंथों की रचना की थी।[३८] तर्क-साहित्य-प्रभृति विद्याओं में प्रवीण 'समयसुन्दरगणि' नामक संस्कृतज्ञ ने 'गाथा-साहस्री' का प्रणयन किया था।[३९] कालिदासादि कवियों की कृतियों से परिचित कोउहल नामक एक संस्कृत ब्राह्मण के द्वारा 'लीलावई' नामक महाकाव्य का महाराष्ट्री प्राकृत भाषा में प्रणयन हुआ था।[४०] अनेक शास्त्रों में प्रवीण हेमचन्द्र ने 'कुमारवालचरिय' नामक द्व्याश्रय महाकाव्य की रचना की।[४१] विख्यात संस्कृतज्ञ कृष्णलीलाशुक (इसके बिल्वमंगल और कोदण्डमङ्गल अपर नाम थे) के द्वारा 'सिरिचिंधकव्व' नामक प्रसिद्ध काव्य की सिद्धि हुई।[४२] साहित्यदर्पण के कर्ता विश्वनाथ के कुवलयाश्वचरित' तथा 'प्रशस्तिरत्नावलि' नामक दो प्राकृत महाकाव्य प्रसिद्ध हैं, जिनमें से द्वितीय काव्य में कुल १६ भाषाओं का प्रयोग हुआ है।[४३] अठारहवीं सदी में केरल में रामपाणिवाद नामक संस्कृत पण्डित हुए। उन्होंने प्राकृत व्याकरण का हेतुपूर्वक अध्ययन कर कसवहो' और 'उसाणीरुद्ध' नामक दो काव्यों की रचना प्राकृत में की।[४४] काव्यमीमांसाकार राजशेखर द्वारा विरचित 'कर्पूरमञ्जरी' नामक प्राकृत-बद्ध सट्टक विख्यात ही है। रुद्रदास नामक किसी वैयाकरण ने 'चन्दलेहा' नामक एक शृङ्गाररसप्रचुर सट्टक लिखा था।[४५] 'महाराष्ट्र-चूड़ामणि' एवं 'सर्वभाषाकवि' उपाधियों से मण्डित घनश्याम नामक कवि ने संस्कृत में ६४, प्राकृत में २० और देशी भाषा में २० ग्रन्थों का निर्माण किया है।[४६] उसके द्वारा रचित प्राकृत ग्रन्थों में 'आनन्द-सुन्दरी' नामक सट्टक समाविष्ट है।[४७] घनश्याम के समान षड्भाषानिपुण नयचन्द्र नामक पण्डित ने 'रंभामंजरी' नामक एक सट्टक लिखा, जिसमें संस्कृत तथा मराठी भाषाएँ भी प्रयुक्त हैं।[४८] सत्रहवीं सदी के मेघविजयगणि नामक किसी जैन आचार्य ने संस्कृत तथा गुजराती भाषाओं में ग्रन्थरचना की।[४९] उसी सदी के (सन् १६७५-१७१२ ई०) रघुनाथ नामक संस्कृतज्ञ कवि ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों के लेखन के पश्चात् नरकवर्णन, पतिव्रताधर्म, गोवर्धनोद्धरण आदि मराठी (अर्थात् प्राकृत) ग्रन्थों का भी निर्माण किया।[५०] लोलिंबराज नामक और एक संस्कृत पण्डित के द्वारा रत्नकलाचरित्र नामक मराठी-प्राकृत काव्य की रचना हुई थी।[५१] सत्रहवीं सदी के कृष्ण नामक कविने (सन् १६६९-१७७० ई०) पद्यमुक्तावलि-प्रभृति संस्कृत काव्योंके निर्माण के बाद अलंकार-कलानिधि, सांभरयुद्ध, जाजऊ युद्ध, बहादुरविजय, शृङ्गाररसमाधुरी, विदग्धमाधवमाधुरी, जयसिंहगुणसरिता, रामचन्द्रोदय, रामरासा, वृत्तचन्द्रिका आदि अनेक काव्यों को व्रज भाषा में निबद्ध किया।[५२] विद्यानाथ-मल्लिनाथ-प्रभृति संस्कृत टीकाकारों ने कानड़ी भाषा में ग्रन्थनिर्माण कर उस भाषा तथा साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान की। कानड़ी भाषा में ग्रन्थनिर्मिति का प्रारम्भ संस्कृतज्ञ जैनों द्वारा ही हुआ था, यह बात विशेष ध्यान देने

योग्य है ।[५३] इस सन्दर्भ में विगत दो शताब्दियों में दो राजाओं ने बड़ा ही वैशिष्ट्यपूर्ण तथा उल्लेखनीय कार्य किया । वे दो राजा थे—स्वाती तिरुनाल रामवर्मन् (सन् १८१३-१८४७ ई०) और महाराज विश्वनाथ सिंह (सन् १८१३-१८५४ ई०) । उनमें से स्वाती तिरुनाल रामवर्मन् केरल के राजा थे । वे अंग्रेजी, संस्कृत, मलयालम्, तमिल्, तेलुगु, कन्नड़ तथा हिन्दुस्थानी भाषाएँ अच्छी तरह जानते थे ।[५४] उनकी संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त मलयालम् भाषा में रचित ग्रन्थ भी प्रसिद्ध हैं । इसके अतिरिक्त उन्होंने मलयालम्, हिन्दी, कन्नड़, तेलुगु एवं मराठी भाषाओं में पद्यों, प्रबन्धों आदि का भी निर्माण किया ।[५५] महाराज विश्वनाथ सिंह रेवा के राजा थे । उन्होंने टीका, सूत्र, भाष्य, चम्पू आदि स्वरूप की रचना संस्कृत भाषा में की । इसके अतिरिक्त परमतत्त्वप्रकाश, रागसागर, उत्तमनीतिचन्द्रिका, ध्रुवाष्टक, पाखण्डखण्डिनी, आदिमङ्गल, चौतीशी, रामायण, शब्द आदि लगभग पैंतीस ग्रंथों की रचना हिन्दी भाषा में की ।[५६] इस प्रकार हम देखते हैं कि, प्राचीन एवं मध्य युग के संस्कृत पण्डितों ने प्राकृत, अपभ्रंश एवं देशी भाषा तथा साहित्य का सक्रिय पुरस्कार किया था और उसके उत्कर्ष के लिए मनःपूर्वक यथाशक्ति प्रयत्न किये थे । संस्कृतज्ञों के द्वारा प्रदर्शित यह सहिष्णु एवं उदार वृत्ति ही प्रशंसनीय है ।

अब संस्कृतज्ञों की प्राकृत में निबद्ध शास्त्रीय साहित्य की निर्मिति का परिचय कर लेंगे । प्राकृतप्रकाशकर्ता वररुचि, प्राकृतप्रकाशवृत्तिकार भामह, प्राकृतलक्षणकार चन्द, प्राकृतव्याकरणसूत्ररचयिता शेषनाग, प्राकृतकामधेनुकार लंकेश्वररावण, सिद्धहेमशब्दानुशासनकर्ता हेमचन्द्र, संक्षिप्तसारकार क्रमदीश्वर, प्राकृतानुशासनविरचयिता पुरुषोत्तम, प्राकृतकल्पतरुकार रामशर्मा भट्टाचार्य, प्राकृतसर्वस्व के कर्ता मार्कण्डेय, प्राकृत रूपावतार के रचयिता सिंहराज, षड्भाषाचन्द्रिका के प्रणेता लक्ष्मीधर, प्राकृतमणिदीपिकाकार अप्पय्य-दीक्षित आदि प्राचीन एवं मध्य युग के प्राकृत वैयाकरण अच्छे संस्कृत पण्डित थे, यह बात सर्वविदित है । धनपाल और हेमचन्द्र ने क्रमशः 'पाइयलच्छीनाममाला' एवं 'देसीनाममाला' का निर्माण किया । ये दोनों कोश-ग्रन्थ थे । विरहाङ्क, नन्दिताढ्य, रत्नशेखरसूरि, जिनप्रभ, स्वयंभु आदि छन्दःशास्त्रज्ञों ने वृत्तजातिसमुच्चय, गाहालक्खण, छन्दःकोश, छन्दोलक्षण, स्वयम्भुछन्द आदि छन्दःशास्त्रपरक ग्रन्थों की रचना की । मध्य युग में ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य (सन् १३००-१३२५ ई०) नामक संस्कृत पण्डित थे । उन्होंने वर्णरत्नाकर नामक एक ग्रन्थ मैथिली भाषा में लिखा था, जिसका स्वरूप विश्वकोश के समान था ।[५७] इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि, संस्कृतज्ञ पण्डित प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विषय में उदार दृष्टिकोण रखते थे । प्राकृत भाषा में रंजक तथा उपदेशात्मक स्वरूप की ग्रंथरचनाओं को सिद्ध करना उन्हें कभी निकृष्ट कार्य प्रतीत नहीं हुआ; अपि तु उनके द्वारा अत्यन्त निष्ठा एवं आत्मीयता से ही ग्रन्थ-निर्माण का कार्य सम्पन्न हुआ है ।

संस्कृत ग्रंथोंपर प्राकृत टीकाएँ।

संस्कृत पण्डितों के मन में प्राकृतों के संबंध में कभी भी परकीय भाव नहीं होता था। संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं के भाषियों के परस्पर सम्बन्ध सौहार्द एवं परम स्नेह के होते थे। इसीलिए उन्होंने पारस्परिक विनियम के अनेक क्षेत्रों का सहर्ष स्वीकार किया। उनमें से कुछ क्षेत्रों का विचार हम पहले कर आये हैं। उनके द्वारा सम्पादित और एक कार्य का विचार अब करेंगे। उस समय में ज्ञान-विज्ञान का प्रमुख माध्यम संस्कृत ही था। इस लिए उस भाषा में निबद्ध बोधस्वरूप साहित्य के आकलन हेतु जिज्ञासुओं को मूल संस्कृत ग्रंथों का पठन करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। उन ग्रंथों के मर्म एवं रहस्य को न जाननेवाले सर्वसाधारण पाठकों की सुविधा के लिए संस्कृत शास्त्रीय ग्रंथोंपर प्राकृत भाषाओं में टीकाएँ लिखीं जाने लगीं। इस प्रकार की टीकाएँ रघुवंशादि रंजक ललित साहित्य पर लिखने की प्रथा भी प्रचलित हुई। उदाहरण के लिए, जनार्दन नामक किसी गुजराती पण्डित ने (सन् ११९२-१३८५ ई०) कालिदासके रघुवंश के बारहसे अठारह सर्गों तक के अंश पर भाष्य लिखा, जिसमें संस्कृत शब्दों एवं वाक्यों का स्पष्टीकरण गुजराती भाषा में किया गया था।[५८] जनार्दन के ही द्वारा मेघदूत पर भी इसी प्रकार के भाष्य का निर्माण हुआ था।[५९] रामानुजकृत 'अष्टादशरहस्यानि' शीर्षक ग्रंथ की टीका व्रजभाषा में किसी भगवद्दास द्वारा लिखी गई थी। इसी टीकाकार ने ईश्वरतत्त्वनिरूपण नामक दार्शनिक ग्रंथपर भी व्रज भाषामें टिप्पणी लिखी थी।[६०] शार्ङ्गदेव के 'सङ्गीतरत्नाकर' नामक प्रसिद्ध संगीतशास्त्रीय ग्रंथ की व्याख्या गंगाराम ने की, जिसका नाम 'सङ्गीतसेतु' था और जिसकी भाषा व्रज थी।[६१] गन्धवाद (रचना समय सन् १००० ई० के पूर्व)[६२] नामक प्रसाधन-विद्यापरक संस्कृत ग्रंथ की मराठी टीका का निर्माण हुआ था।[६३] श्रीपति नामक ज्योति:शास्त्रज्ञ ने (समय—सन् लगभग १०२८ ई०) सिद्धान्तशेखर नामक शास्त्रीय ग्रंथ की रचना कर उसकी मराठी टीका स्वयं ही थी।[६४] विट्ठल गलण्ड के द्वारा रामराजकृत 'रसरत्नदीप' नामक चिकित्सापरक ग्रंथ का मराठी में रूपान्तर हुआ।[६५] मुद्गलभट्टकृत रामार्यों का मराठी अनुवाद हरिराज नामक किसी मराठी पण्डितके द्वारा किया गया था।[६६] विट्ठल, भैरव, अनन्त पण्डित आदि पाँच-सात कवियों के द्वारा भानुदत्तविरचित नायिका-वर्णनपरक रसमंजरी के मराठी अनुवाद हुए[६७], और इसी ग्रंथ की बालाचार्य पण्डित ने श्लोकबद्ध मराठी टीका भी की।[६८] अश्वशास्त्रपरक अश्वायुर्वेद, अश्ववैद्यक, अश्वचिकित्सा, शालिहोत्र आदि संस्कृत ग्रन्थों के अन्तर्गत विषयों की चर्चा करनेवाले 'शालिहोत्र' नामक अनेक गद्यमय ग्रंथ मराठी में लिखे गये। उनमें ही विश्वेश्वरकृत अश्वचिकित्सा नामक संस्कृत ग्रंथ की महाराष्ट्र-टीका का समावेश होता है।[६९] सत्रहवीं शताब्दी में शामराज नामक कवि ने मराठी में 'कामशास्त्रटीका' का निर्माण किया था।[७०] शंकराचार्य के 'ज्ञानसंन्यास' ग्रंथ की मराठी टीका किसी राम नामक कवि के द्वारा रची गई थी।[७१]

श्रीपति और ब्रह्मदेव के प्रख्यात ज्योतिःशास्त्रीय ग्रंथों के मराठी अनुवाद बहुत प्राचीन समय में ही सिद्ध हुए थे।[७२] मुकुन्दराज का 'विवेकसिन्धु' श्रीशंकराचार्य के प्रतिपादन का मराठी सारांश कहा जा सकता है।[७३] सुप्रसिद्ध कवि जयदेव के गीतगोविन्द की 'महाराष्ट्र-सुबोधिनी' नामक मराठी टीका भीष्माचार्य नामक एक प्रकाण्ड पण्डित के द्वारा लिखी गयी।[७४] संत एकनाथ के समकालीन महालिंगदास नामक कवि ने कौटलीय अर्थशास्त्र की एक मराठी टीका की, जिसमें टीका का प्रयोजन इन शब्दों में वर्णित है—'चूँकि ऋजु जन संस्कृत नहीं जानते हैं, इस लिए यह रचना मराठी में की गई है।'[७५] रमावल्लभदास के द्वारा 'वाक्यवृत्ति' नामक एक विस्तृत टीका मराठी में सिद्ध हुई, जो शंकराचार्य की 'बृहद्वाक्यवृत्ति' की टिप्पणी है।[७६] वामन पण्डित ने भर्तृहरि की शतकत्रयी एवं जगन्नाथ पण्डित की गङ्गालहरी को मराठी रूप बड़ी चतुरता से दिया है।[७७] पिंगल-काश्यप-सैतव-प्रभृतियों के ग्रंथों के आधार पर 'छंदोमंजरी' नामक एक उत्कृष्ट टीका रामचन्द्र दैवज्ञ ने देशभाषा में निबद्ध कर मराठी भाषा की शोभा बढ़ायी।[७८] हरिदास नामक किसी ग्रंथकार ने 'योगवासिष्ठ' की मराठी टीका करते हुए अपने उद्देश्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—'देशभाषा टीका प्राकृत केली विस्तारित जनहितार्थ।' (अर्थात् मैंने यह टीका देशी भाषा में अर्थात् मराठी प्राकृत में की है। यह विस्तृत टीका लोगों के हित के लिए मैंने रची है।[७९]) 'दण्डनीतिपर संस्कृत ग्रन्थान्तर्गत युक्ति को महाराष्ट्र भाषा में विस्तार से कहता हूँ' ऐसा प्रस्ताव कर किसी अज्ञात कवि ने 'राजनीति' नामक मराठी ग्रन्थ की रचना की। उस ग्रंथ की भाषा सालंकृत है और उसमें किया हुआ विचारप्रदर्शन प्रौढ़ एवं प्रभावशाली है।[८०] इसके अतिरिक्त रामायण, महाभारत, भागवत, भगवद्गीता आदि ऐतिहासिक एवं दार्शनिक ग्रंथों की शताधिक टीकाएँ प्राचीन मराठी भाषा में लिखी गईं, यह बात सर्वविदित है। सारांश, गुजराती, व्रज, कन्नड़, मराठी आदि प्राकृत भाषिकों की सुविधा को ध्यान में रखते हुए अनेक पण्डितों ने संस्कृत के असंख्य शास्त्रीय तथा अन्य ग्रंथों के प्राकृत अनुवाद, टीकाटिप्पणी आदि के द्वारा प्राकृत भाषाओं की प्रशंसनीय सेवा की है।

प्राकृत ग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ :

सर्वसाधारण पाठक संस्कृत में लिखित ग्रन्थों को भलीभाँति पढ़ने में असमर्थ थे, इस लिए 'बालानां सुखबोधाय' की वृत्ति से प्रेरित होकर अनेक संस्कृत ग्रन्थों को प्राकृत की वेशभूषा दी गयी थी। अर्थात्, यह टीकासाहित्य आवश्यकता के कारण निर्मित हुआ था। यद्यपि संस्कृत पण्डित प्राकृत के अच्छे जानकार थे और वे सहजतया प्राकृत ग्रन्थों को पढ़ सकते थे, तथापि उन्होंने अगणित प्राकृत ग्रन्थों की संस्कृत टीकाएँ भी रची थीं। इस प्रवृत्ति के कुछ सम्भवनीय कारण कहे जा सकते हैं। वे कारण हैं—
(अ) संस्कृत के माध्यम के द्वारा प्राकृत के ग्रन्थों को समझाने के लिए इस प्रकार की

टीकाएँ लिखीं गईं हों। (आ) चूँकि संस्कृतज्ञों के द्वारा प्राकृत भाषा एवं साहित्य को 'एक अध्ययन-विषय' के रूप में मान्यता दी गई थी, इस लिए उनका दृष्टिकोण सम्भवतः यह रहा हो कि, प्राकृत का भी, संस्कृत के समान, सम्मान किया जाए। (इ) प्राकृत भाषा एवं तदन्तर्गत साहित्य की प्रतिष्ठा को बढ़ाने की इच्छा से भी उक्त संस्कृत टीकाएँ रची गईं हों। कारण कुछ भी हो, परन्तु संस्कृतज्ञों ने प्राकृत ग्रन्थों पर संस्कृत भाषा में टीकाओं का प्रणयन कर जनता के सम्मुख निरहङ्कार, सहिष्णु एवं उदार आचरण का आदर्श प्रस्तुत किया। इस प्रकार की टीकाओं का ज्ञान अब प्राप्त करेंगे। हालसंकलित 'गाहासत्तसई' सर्वाधिक भाग्यशाली ग्रन्थ था। क्यों कि इस प्राकृत रचनापर संस्कृत में जितनी टीकाएँ लिखीं गईं उतनी शायद ही अन्य किसी ग्रन्थ पर लिखी गईं हों। इनमें कुलनाथ, गंगाधर, पीताम्बर, प्रेमराज, भुवनपाल, साधारणदेव, कुलपति, चैतन्य, भट्ट, भट्टराघव, भोजराज, आजड़, माधवयज्व, वैदिक,[८१] पण्डित मथुरानाथ, देवव्रत[८२] की टीकाएँ उपलब्ध हैं।[८३] जयवल्लभकृत 'वज्जालग्ग' की संस्कृत छाया रत्नदेवगणि नामक विद्वान् के द्वारा सिद्ध हुई।[८४] प्रवरसेनरचित 'रावणवह' नामक प्राकृत काव्य का संस्कृत टीकाओं के द्वारा गौरव करनेवाले प्रमुख विद्वान् थे— कुलनाथ, लोकनाथ, श्रीनिवास, साहसाङ्क एवं हर्षपाल।[८५] कृष्ण नामक किसी दाक्षिणात्य संस्कृत टीकाकार-रचित निम्नोद्धृत श्लोकद्वय इस बात को प्रमाणित करते हैं कि, प्रवरसेन के प्रति संस्कृत पण्डितों के मन में नितान्त एवं उत्कट आदरभाव था—

> "विद्वांसो बहवो ह्यस्य व्याख्यानानि प्रचक्रिरे।
> न तैरप्यखिलैरस्य सम्यगर्थः प्रकाशितः॥ ९०
> भावः प्रवरसेनस्य गहनो न हि शक्यते।
> प्राज्ञैरपि परिज्ञातुं मन्दैः किमुत मादृशैः॥९१॥"[८६]

प्रस्तुत दो पद्य अनेक बातों पर प्रकाश डालते हैं, जैसे—प्रवरसेन की कृति की अनेक व्याख्याएँ हुईं थीं, तिसपर भी प्रवरसेन का समग्र अभिप्राय पूर्ण रूपसे अभिव्यक्त न हो पाया था, प्रवरसेन की रचना में गूढ़ भाव निहित था जो प्रज्ञावान् व्यक्तियों की प्रज्ञा से भी परे था। कृष्ण स्वयं प्रज्ञावान् है और फिर भी वह प्रवरसेन की भूरि प्रशंसा कर रहा है। संस्कृत पण्डितों के द्वारा प्रदर्शित यह निर्मत्सरिणी एवं गुणग्राहिणी वृत्ति अनुकरणीय है, इसमें कोई सन्देह नहीं।[८७] वाक्पतिराजकृत 'गउड़वहो' नामक प्राकृत काव्य को हरिपाल नामक संस्कृत पण्डितने 'गौडवधसार' शीर्षक टीका के द्वारा विभूषित किया था।[८८] इसी प्रकार किसी अज्ञात टीकाकारने 'लीलावती-कथावृत्ति' की रचना कर कोउहल के 'लीलावई' नामक प्राकृत काव्य को मण्डित किया।[८९] हेमचन्द्र-रचित 'कुमारवालचरिय' शीर्षक के द्व्याश्रय काव्य की दो टीकाएँ हुईं—संस्कृत अंश की

एक और प्राकृत अंश की दूसरी।[९०] विल्वमङ्गल के 'गोविन्दाभिषेक' नामक प्राकृत महाकाव्य को दुर्गाप्रसाद यति ने संस्कृत टीका के द्वारा विभूषित किया।[९१] राजशेखर की 'विद्धसालभञ्जिका' को वासुदेवन् नम्बूतिरि (तथा साहित्यमल्ल) रचित टीका का सौभाग्य प्राप्त हुआ। कर्पूरमंजरी अनन्तदास द्वारा रचित टीका से सजायी गई। इन दो टीकाओं के नाम हैं क्रमशः मार्गदर्शिनी और पदार्थदीपिका।[९२] घनश्याम नामक महाराष्ट्री ग्रन्थकार द्वारा निर्मित 'आनन्दसुन्दरी' नामक सट्टक का सुयोग्य गौरव भट्टनाथ ने संस्कृत टीका का प्रणयन कर किया।[९३] प्राकृत भाषा में रचित शास्त्रपरक ग्रन्थों का भी समुचित सम्मान संस्कृत पण्डितों ने सहर्ष किया। उदाहरण के लिए, वररुचि के 'प्राकृतप्रकाश' पर भामह, वसंतराज, सदानन्द, नारायणविद्याविनोद, रामपाणिवाद आदि अनेकों ने टीकाग्रन्थों की रचना कर प्रकाश डाला।[९४] हेमचन्द्ररचित 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' को भी अनेकों ने टीकाओं से सम्मानित किया।[९५] अप्पय्य दीक्षितकृत 'प्राकृतमणिदीपिका' की संस्कृत टीका गोपालाचार्य ने लिखी।[९६] मध्य युगमें मराठी ग्रन्थों की ओर भी संस्कृत पण्डितों की कृपा दृष्टि रही। श्रीज्ञानेश्वररचित 'अमृतानुभाव' की संस्कृत टीका का नाम सहजानन्दी था और उसके कर्ता सहजानन्द थे।[९७] मुकुन्दराज के 'विवेकसिंधु' का संस्कृत रूपान्तर गोपाल मुद्गल ने किया[९८], तो किसी अज्ञात पण्डित ने सरस्वती गङ्गाधरविरचित गुरुचरित्र का संस्कृत में अनुवाद किया।[९९] ज्ञानेश्वर की 'चांगदेवपासष्टी' भी उत्तर काल में एक संस्कृत समश्लोकी टीका से सुसंस्कृत हुई।[१००] मोरोपंतरचित मंत्रभागवत के पूर्वार्ध के कुछ अंशों तथा 'केकावलि' नामक भक्तिकाव्य की संस्कृत टीकाएँ काव्यसंग्रहकार को प्राप्त हुई थीं।[१०१] ऐसा दृढ़ विश्वास है कि, प्राचीन एवं मध्य युग के मलयालम्, तेलुगु, कन्नड़, गुजराती, हिन्दी आदि भाषाओं में निबद्ध रंजक तथा बोधक साहित्य का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर उसके संस्कृत-भाषा-निबद्ध भाष्य-टीकादि ग्रन्थ अवश्य पाये जाएँगे।

इस निबन्ध में हमने यहाँ तक जो विवेचन किया है उसके निष्कर्ष प्रथमतः संकलित कर रहे हैं :—

१. प्राकृत तथा देशी भाषाओं एवं साहित्य को प्राचीन समय में राजाश्रय प्राप्त था।
२. प्राकृत तथा देशी भाषाओं के विद्वानों को समाज में, संस्कृत भाषा के विद्वानों के समान, सम्मान का स्थान प्राप्त था।
३. प्राकृत तथा देशी भाषाओं में निर्मित साहित्य की अभिवृद्धि संस्कृत साहित्य के समान ही हुई।
४. संस्कृत पण्डितों ने प्राकृत तथा देशी भाषाओं में रंजक तथा शास्त्रीय साहित्य का सृजन सफलता एवं निष्ठा से किया।

५. संस्कृतज्ञ प्राकृत पण्डितों ने भी संस्कृत भाषा एवं साहित्य की उपासना लगन से की।

६. संस्कृत ग्रंथों की अनुवादरूप एवं व्याख्यारूप टीकाएँ प्राकृत तथा देशी भाषाओं में हुईं। उसी प्रकार प्राकृत एवं देशी साहित्य को संस्कृत रूपान्तर-विवरणादिकों का संस्कार प्राप्त हुआ।

७. संस्कृत साहित्य प्राकृत से और प्राकृत साहित्य संस्कृत से प्रभावित हुआ।

८. प्राकृत ग्रन्थकार संस्कृत कवियों की प्रशंसा करते थे और संस्कृत ग्रन्थकार भी प्राकृत कवियों का निर्मल हृदय से गुणगान करते थे।

९. संस्कृतज्ञ शिष्ट समाज अहङ्गण्ड से उद्धत नहीं हुआ था, अथवा प्राकृतज्ञ अवशिष्ट समाज न्यूनगण्ड से सङ्कोच का भी अनुभव नहीं करता था।

१०. सारांश, संस्कृत, प्राकृत तथा देशी भाषाओं में तथा उन भाषाओं की सहायता से अपने-अपने व्याहारों को सुसम्पन्न करनेवाले भाषिकों में पूर्णतया वैचारिक सामञ्जस्य, पारस्परिक ज्ञानविनिमय एवं मित्रता का वातावरण रहा करता था।

सद्यःकालीन परिस्थिति के कतिपय उपाय

प्रस्तुत निबन्ध के आरम्भ में वर्णित सद्यःकालीन भारतान्तर्गत भाषाविषयक स्थिति न केवल स्फोटक अपि तु सर्वनाशक है। उसके गर्भ में देश को छिन्नविच्छिन्न करनेवाली दुष्ट शक्ति छिपी हुई है। इस विनाशक परिस्थिति का सामना कर देशकी एकता को बनाये रखने की सद्भावना से प्रेरित होकर कतिपय उपाय आगे सूचित किये जा रहे हैं :—

(अ) सम्प्रति भारत में बोली जानेवाली सभी भाषाएँ लोगों के व्यवहार की भाषाएँ हैं। उन्हें शासन से न केवल मान्यता अपि तु प्रश्रय भी प्राप्त है। अब वे राज्यशासन की भाषाएँ हो गईं हैं। फलतः इनका वैभव भविष्यत्काल में अवश्य और बढ़ेगा। उसकी गति में योगदान करने की सद्बुद्धि से अपने पूर्वजों द्वारा अवलम्बित किये गये एक उपक्रम का अवलम्ब करना हितावह होगा। वह उपक्रम है, विविध भाषाओं में निर्मित प्रमुख अक्षर साहित्यकृतियों के अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद। सृजनात्मक साहित्य (creative literature) की भाषा हृदय की भाषा होती है। उसे सहृदय पाठक त्वरित समझ लेता है। इसी लिए यदि साहित्यप्रेमी रसिक को स्वेतर भाषा/भाषाओं में निर्मित रंजक साहित्य उपलब्ध हो जाएगा, तो एक ओर उसका मनोरंजन होगा और दूसरी ओर उसे 'अखिल भारतीय मन' की एकरूपता का परिचय

भी होगा। इस परिचय से स्वेतर भाषा में निबद्ध साहित्य के प्रति सौहार्द का भाव उसके मन में अंकुरित होकर पनपने लगेगा। इसके अतिरिक्त इस उपक्रम से अनेक गण्डों (complexes) का निर्मूलन होकर भिन्न-भिन्न भाषाओं के शब्दों, वाक्यप्रयोगों, कल्पनाओं एवं विचारों के अनिर्बन्ध, परस्परोपकारक एवं निरामय आदानप्रदान का प्रशस्त मार्ग खुला हो जाएगा। सम्प्रति नॅशनल् बुक् ट्रस्ट, साहित्य अकादमी आदि संस्थानों के द्वारा उक्त दिशामें जो कार्य चल रहा है, उसमें गति लाने की नितान्त आवश्यकता है।

(आ) पूर्वजों ने टीकात्मी ग्रन्थों का निर्माण किया था। आज भी उस प्रकार के ग्रन्थों की आवश्यकता है, केवल उनका स्वरूप भिन्न होना चाहिए। अंग्रेजी भाषान्तर्गत आलोचक एवं उनका आलोचना-दर्शन आदि बातों से हमारा अच्छा परिचय हुआ है। परन्तु, पड़ोसी राज्य के साहित्य-समीक्षकों की विचारधाराओं से हमारा उतना परिचय नहीं है। इस प्रकार का परिचय होकर उसकी सहायता से 'देशी' साहित्यशास्त्र का निर्माण सम्भव हो, इसलिए अन्य भाषाओं के साहित्यमीमांसकों के ग्रंथों का अध्ययन परिश्रमपूर्वक एवं निष्ठासे होना चाहिए। इस अध्ययन को दो मार्गों के द्वारा विचारकों के समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है—एक मार्ग है परभाषिक साहित्यविमर्शकों के ग्रंथों के अनुवाद का, और दूसरा मार्ग है ऐसे विमर्शकों के सम्पूर्ण ग्रंथों के विवेचनात्मक अध्ययन का। अरस्तू के पोइटिक्स (Aristotle's Poetics) की महिमा जितनी है, उतनी ही मर्ढेकर के 'साहित्य एवं सौन्दर्य' की भी है। यह वैचारिक दृष्टिकोण दृढ़मूल होना चाहिए। यदि ऐसा हो पाता है, तो बहुत कुछ प्रगति की जा सकती है। भविष्यत्काल में साहित्यशास्त्रविषयक विचारों के विकास का अखिल भारतीय इतिहास सिद्ध किया जा सकता है।

(इ) उपरिवर्णित वाङ्मयीन उपक्रमों की पुष्टि यदि विश्वविद्यालयों के द्वारा होती है, तो और भी अच्छा है। इस दृष्टि से इस बात का प्रयत्न होना आवश्यक है कि, प्रत्येक राज्य की राजधानी में तथा केन्द्रसंचालित सभी विश्वविद्यालयों में 'भाषिक-संवर्धन-संस्था' (Institute for promotion of linguistic integration) की स्थापना हो। ऐसी संस्थाओं में शासन-मान्य सभी भाषाओं की उपाधि-परीक्षा तक की शिक्षा का प्रबन्ध हो। ऐसी संस्थाओं में कार्य करनेवाले अध्यापक और पढ़नेवाले छात्र विभिन्न भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त हों।

(ई) राज्यशासन भी उक्त साहित्यिक (Literary) तथा विद्यापीठीय (Academic) प्रयत्नों की सहायता कर सकता है। प्रत्येक राज्य में उपाधि-परीक्षा तक की शिक्षा में उस राज्य की भाषा एवं साहित्य को अनिवार्य विषय कर दिया जाय। ऐसा करनेसे इस राज्यमें बाहर से आकर बसे हुए परप्रान्तियों के मनमें उस प्रान्त की भाषा एवं

तन्निविष्ट साहित्य के विषय में आत्मीयता का अनुभव होने लगेगा। सम्भवतः कुछ लोग परराज्य की भाषा को अच्छी तरह आत्मसात् कर उसमें ग्रन्थ-प्रणयन का प्रयत्न भी प्रारंभ करेंगे। कमसे कम परकीयत्व की भावना तो कम होगी ही।

(उ) संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं में निबद्ध गणितादि शास्त्रों पर प्राचीन एवं मध्य युग में निर्मित ग्रन्थों में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का कोश यथाशीघ्र सिद्ध करना अत्यावश्यक है। इस दिशामें प्राचीनों के द्वारा किये गये उद्यम से पथप्रदर्शन प्राप्त करना अभीष्ट है। प्राचीन शास्त्रीय ग्रंथों के अध्ययन के आधार पर सिद्ध की गयी परिभाषा स्वरूपतः 'अखिल भारतीय' होगी, जिससे वह समस्त भारत में स्वीकरणीय होगी। विभिन्न राज्यीय भाषाओं में उच्चस्तरीय शास्त्रीय विषयों के अध्ययन-अध्यापन का कार्य सुचारु रूप से सुसम्पन्न करने के लिए उक्त परिभाषा की सहायता सम्भवतः हो सकेगी।

उक्त उपायों से देश की एकता को बनाये रखने में अवश्य योगदान मिलेगा।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१. Dr. Gaurinath Sastri, *A Concise History of Classical Sanskrit Literature*, Calcutta, second edition (इतःपर CHCL संकेत से निर्दिष्ट) p. 18

२ हालसातवाहन, हालसातवाहनाची गाथासप्तशती (मराठी) संपा० स० आ० जोगलेकर, पुणे, १९५६ (अतःपर 'हालगाथा' संकेत से निर्दिष्ट), प्रस्तावना खण्ड पृ० ४०

३. (अ) तत्रैव, पृ० ४२९

(आ) Dr. V. Varadachari, *A History of the Sanskrita Literature*, Allahabad, second edition, 1960 (अतःपर VHSL संकेत से निर्दिष्ट), पृ० ५

४ रुद्रट, श्रीरुद्रटप्रणीतः काव्यालंकारः, संपा० पं० दुर्गाप्रसाद एवं वा० ल० पणशीकर, काव्यमाला २, मुंबई, तृतीय आवृत्ति, १९२८ (अतःपर 'रुकाल' संकेत से उल्लिखित) पृ० १३

५. दण्डी, दण्डिकृतं काव्यादर्शापराभिधम् काव्यलक्षणम् रत्नश्रीज्ञानकृतया रत्नश्रिया

टीकया समलङ्कृतम्, संस्कर्ता—अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र उपाध्याय, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५७ (अतःपर 'काल' संकेत से निर्दिष्ट), १/३४

६. डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत साहित्य का इतिहास (हिन्दी), वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६१ (अतःपर 'प्रासाइ' संकेत से निर्दिष्ट), पृ० २७-२९

७. तत्रैव पृ० ६४० ८. VHSL, p. 5, ९. प्रासाइ पृ० ६९१-९२

१०. हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड, ४२१-४२२

११. राजशेखर, कविराजराजशेखरविरचिता काव्यमीमांसा संपा० पं० मधुसूदन मिश्र, बनारस १९३४ (अतःपर 'काव्यमी' संकेत से उल्लिखित) पृ० १६३

१२. हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड, पृ० ४२२ १३. काव्यमी पृ० १७५-१७६

१४. CHCL, p. 55

१५. Hans Raj Aggarwal, *A Short History of Sanskrit Literature*, Delhi, second edition, 1963 (अतःपर SHSL संकेत से निर्दिष्ट), p. 63

१६. प्रासाइ पृ० ६८१ १७. VHSL p. 77 १८. CHCL p. 8

१९. हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड पृ० ४२७

२०. Dr. S. K. De, *Ancient Indian Erotics and Erotic Literature*, Calcutta, First edition, May 1959 (अतःपर EL संकेत से निर्दिष्ट), pp. 19-20

२१. Dr. M. Krishnamachariar, *History of Classical Sanskrit Literature*, Madras, 1937 (अतःपर HCSL संकेत से उल्लिखित), p. 250

२२. शिवदानसिंह चौहान, काश्मीरः देश व संस्कृति (हिन्दी), दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९५० (अतःपर 'कादेस' संकेत से उल्लिखित), पृ० १८३-१८४

२३ Dr. K. Kunjunni Raja, *The Contribution of Kerala to Sanskrit Literature*, Madras, 1958 (अतःपर CKSL संकेत से उल्लिखित), pp 170-71, footnote 9

२४. राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी की निम्नोद्धृत गाथा प्राकृत की लोकप्रियता की परिचायक है—'परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सउमारो ।
पुरिसमहिलाणँ जेत्तिअमिहंतरं तेत्ति अमिमाणं ॥'

—हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड, पृ० ४२

२५. तत्रैव, प्रस्तावना खण्ड, पृ० ४९

२६. प्रवरसेन, Pravarasena's *Rāvaṇavaha Mahākāvyam*, Edited by Dr. Radhagovinda Basak, Calcutta, 1959 (अतःपर 'रावणवह' संकेत से निर्दिष्ट) Introduction p. IX

२७. Dr. C. *Kunhan Raja Presentation Volume*, Madras, 1946 (अतःपर RCV संकेत से निर्दिष्ट), pp. 349-352

२८ रावणवह Introduction pp. XI-XII

२९. Dr. P. K. Gode, *Studies in Indian Literary History*, Vol. I, Bombay, 1953 (अतःपर SLH1 संकेत से निर्दिष्ट), p. 35, footnote 1

३०. 'द्विविधं हि स्मृतं पाठ्यं संस्कृतं प्राकृतं तथा ।'
भरत, श्रीभरतमुनिविरचितं नाट्यशास्त्रम्, संपा० केदारनाथ पण्डित, काव्यमाला ४२, मुंबई, द्वितीय संस्करण, १९४३ (अतःपर 'नाट्य' संकेत से निर्दिष्ट), १४/५

३१. भामह, आचार्य भामह-विरचित, काव्यालङ्कार, भाष्यकार-देवेन्द्रनाथ शर्मा, पटना, १९६२ (अतःपर 'भामह' संकेत से निर्दिष्ट), १/१६

३२. रुकाल पृ० १३ ३३. प्रासाइ, परिशिष्ट २, पृ० ७०३-७८४

३४. 'संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादि यत् ।
ओसरादिरपभ्रंशो नाटकादि तु मिश्रकम् ॥'—काल १/३७

३५. भामह १/२८ ३६. काल १/३८

३७. प्रासाइ पृ० ५७५; हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड, पृ० ५३

३८. प्रासाइ पृ० ३५५ ३९. तत्रैव पृ० ५८४ ४०. तत्रैव पृ० ५९५-५९८

४१. प्रासाइ पृ० ५९८-६०३ ४२. तत्रैव पृ० ६०३-६०५ ४३. तत्रैव पृ० ६६५

४४. CKSL p. 189 ४५. प्रासाइ पृ० ६३०-६३१

४६. तत्रैव पृ० ६३२-६३३ ४७. तत्रैव ४८. तत्रैव पृ० ६३३-६३५

४९. SLH 1 p. 91, footnote.

५०. Dr. P. K. Gode, *Studies in Indian Literary History* Vol. II, Bombay, 1954 (अतःपर SLH 2 संकेत से निर्दिष्ट), pp. 391-403

५१. Ibid pp. 79-80 ५२. SLH 2 p. 282

५३. ग. म. वैद्य, स्वामी विद्यारण्य चरित्र आणि कार्य (मराठी), पुणे, पहिली आवृत्ति, १९६५ पृ० ९०

५४. बहुभाषाविशारदत्व के विषय में रामवर्मन् मानो भास-दण्डि-हेमचन्द्र-प्रभृति प्राचीनों का वंशज-सा था।

५५. CKSL pp. 180-182 ५६. SLH 2 pp. 242-258

५७. SLH. 1 p. 283 & footnote 1. ५८. Ibid pp. 309-316

५९. Ibid. ६०. SLH 2 p. 153, footnote. ६१. Ibid p. 244

६२. Dr P.K. Gode, *Studies in Indian Literary History*, Vol.III, Poona, 1956 (अतःपर SLH 3 संकेत से निर्दिष्ट), pp 1-12

६३. Ibid pp. 297-308. ६४. SLH 1 p 415

६५. वि. ल. भावे, महाराष्ट्र-सारस्वत (पुरवणीसह) [मराठी] पुरवणीलेखक—डॉ० शं० गो० तुलपुले, मुंबई, आवृत्ति पाचवी, १९६३ (अतःपर 'सारस्वत' संकेत से निर्दिष्ट), पृ० ७४६

६६. सारस्वत पृ० ९५७ ६७. तत्रैव पृ० ३८५ ६८. तत्रैव पृ० ९९५

६९. तत्रैव पृ० ६०६ ७०. तत्रैव पृ० ४२० ७१. तत्रैव पृ० ४००

७२. तत्रैव पृ० २३-२४ ७३. तत्रैव पृ० ३० ७४. तत्रैव पृ० १८१ व ७४९

७५. तत्रैव पृ० २३९ ७६. तत्रैव पृ० २७२ ७७. तत्रैव पृ० ३६७

७८. तत्रैव पृ० ६२७-६२९ ७९. तत्रैव पृ० ५३६ ८०. तत्रैव पृ० ६१३-६१४

८१. SLH. 1. p 147, footnote 3. ८२. CKSL p. 245

८३. हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड पृ० ३०-३१ ८४ प्रासाइ पृ० ५७९-५८०

८५. रावणवह Introduction p XVI ८६. Ibid, Introduction pp. XVI-XVII

८७. इस वृत्ति का प्रदर्शन अन्य प्राकृत कवियों के विषय में भी हुआ था। उदाहरण के लिए, बाणभट्टने अपने 'हर्षचरित' की प्रस्तावना में सातवाहन के प्रति अपने श्रद्धाभाव को प्रकट करते हुए लिखा है—अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः।

विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥' हर्षचरितम् ७

राजशेखर के द्वारा हाल की प्रशस्ति इन शब्दों में हुई है—

'जगत्यां ग्रथिता गाथा सातवाहनभूभुजा।
व्यदधुस्तास्तु विस्तारमहो चित्रपरम्परा ॥'—हालगाथा, प्रस्तावना खण्ड, पृ० ५२

अभिनन्द और राजशेखर के अतिरिक्त सोड्ढल एवं गोवर्धनाचार्य ने भी हाल का स्तुतिगान किया था। इतना ही नहीं, अपि तु रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ आदि

काव्यशास्त्रज्ञों ने हाल के चरणों में स्तुति के सुमन अर्पित किये थे। महाकवि प्रवरसेन का यशोगान करते हुए बाणभट्ट की वाणी विशेष रूप से स्फुरित होती है—

'कीर्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥' हर्षचरितम् ८

दण्डी के द्वारा भी यह काव्य 'सागरः सूक्तिरत्नानां' (काल १/३४) इन गौरवपूर्ण शब्दों में वर्णित है। वाक्पतिराज जैसा प्राकृत महाकवि भी भवभूति, भास, ज्वलनमित्र, सुबन्धु, हरिचन्द्र आदि संस्कृत कवियों की भूरि प्रशंसा करता है।

८८. प्रासाइ पृ० ५८९ ८९. तत्रैव पृ० ५९८ ९०. तत्रैव पृ० ५९८-६०३
९१. तत्रैव पृ० ६०३-६०५ ९२. CKSL p. 245 ९३. प्रासाइ पृ० ६३३
९४. तत्रैव पृ० ६३७-६३८ ९५ तत्रैव पृ० ६४३ ९६ तत्रैव पृ० ६४७
९७. सारस्वत पृ० ११७ ९८. तत्रैव पृ० ३० व १००६ ९९ तत्रैव पृ० १९१
१००. तत्रैव पृ० ७१८ १०१. तत्रैव पृ० ९४८

संस्कृत काव्यशास्त्रविषयक एक समस्या

समस्या का स्वरूप

संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा जितनी प्रदीर्घ एवं प्राचीन है उतनी ही समृद्ध भी है। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरतमुनि इस शास्त्रके प्रवर्तक माने जाते हैं। स्वयं भरतमुनि ने पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्र के आचार्यों का नामनिर्देश अपने ग्रंथ में यथास्थान किया हुआ है, किन्तु सम्प्रति उन आचार्यों के ग्रन्थ अनुपलब्ध होने के कारण उनके एतद्विषयक अभिमतों का स्पष्ट एवं निश्चित ज्ञान हमें प्राप्त नहीं होता। भरतमुनि के समय में 'तुच्छ'[1] अर्थात् लघुरूप यह काव्यशास्त्र-प्रवाह आगे चलकर ग्रंथविभव से सम्पन्न होकर बृहत्, गम्भीर एवं विद्वद्वन्द्य हो गया। पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यशास्त्रीय 'रसगङ्गाधर' ग्रन्थ के प्रणयन के साथ ही इस शास्त्र का प्रकर्ष अवरुद्ध हुआ। यद्यपि जगन्नाथ के पश्चात् कुछ विद्वानों ने ग्रन्थ निर्माण के द्वारा इस शास्त्र को समृद्ध करने का यथाशक्ति प्रयत्न किया है, किन्तु उनके ग्रंथ प्रायः अनुकृति एवं अनुवाद होने के कारण उनमें पूर्ववर्ती आचार्यों के सैद्धान्तिक विचारों की मौलिकता परिलक्षित नहीं होती। तथापि, भरतमुनि से लेकर मुदम्बई नरसिंहाचार्य-रामसुब्रह्मण्यम्-रावजी मोड़क-आदि आधुनिक विचारकों तक इस काव्यशास्त्र की स्रोतस्विनी का कालपथ लगभग दो सहस्र वर्षों का माना जाता है। इस दीर्घ समय में सूत्र-कारिका-प्रभृति आकर-ग्रन्थों का तथा विवरण-वृत्ति-वार्तिक-टीका-भाष्य-आदि का निर्माण करनेवाले ग्रन्थकार एवं टीकाकार लगभग ४५० हुए। उनके ग्रन्थों की संख्या भी सामान्यतया उतनी ही है।[2] इसमें सन्देह नहीं कि, संस्कृत काव्यशास्त्र न केवल ग्रन्थ-संख्या-बहुल है, अपि तु वह गुणबहुल एवं विचारबहुल भी है। इस शास्त्र की न केवल 'ग्रन्थ-वृद्धि' हुई, अपि तु वैचारिक विकास भी हुआ। भरतोत्तरकालिक भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तक, क्षेमेन्द्र, विश्वनाथ, जगन्नाथ आदि काव्यशास्त्रकारों ने काव्य के विषय में सर्वांगीण विचार-विमर्श किया हुआ है। उनमें से कतिपय आचार्यों ने काव्य की आत्मा के विषय में गम्भीर, पाण्डित्यपूर्ण एवं सरस चर्चा भी की है। उसी के फलस्वरूप अलंकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति, औचित्य, रस, आदि के सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ और तत्पश्चात् उक्त सिद्धान्तों को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि, उनको काव्यशास्त्ररूपी दर्शन के छः अंगों की योग्यता प्रदान की गयी। एतदन्यतम रस-सिद्धान्त जागतिक काव्यशास्त्र को भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र के द्वारा समर्पित देन मानी जाती है। इस प्रकार भारतीय काव्यशास्त्र की अभिवृद्धि के युग में गम्भीर सैद्धान्तिक विचारमन्थन हुआ। इतना होने पर भी इस तथ्य को व्यथित चित्त से स्वीकृत करना ही होगा कि, परिस्थिति सर्वथा

अनुकूल होते हुए भी संस्कृत काव्यविमर्शकों ने रसास्वादन कला एवं शास्त्र का विशद प्रणयन एवं परिबृंहण नहीं किया। उस समय संस्कृत भाषामें श्रव्य, प्रेक्ष्य एवं पाठ्य नाटककाव्यादि साहित्य का निर्माण प्रचुर मात्रामें हो रहा था। इसी प्रकार उन साहित्यिक कृतियों के रसग्रहण की परिभाषा भी सिद्ध एवं मान्य थी। इसके अतिरिक्त उक्त साहित्य का आस्वादक एवं समीक्षक वर्ग भी विद्यमान था तथा संस्कृत साहित्य का अध्ययन-अध्यापन भी विद्यालयों में हुआ करता था। तात्पर्य यह कि, काव्य के रसग्रहण के शास्त्र एवं कला इस उभयविध पक्ष के अनुकूल और पोषक स्थिति विद्यमान होने पर भी उस शास्त्र एवं कला का प्रणयन एवं आविष्करण नहीं हुआ। ऐसा क्यों हुआ यह हमारे सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। उसी को लेकर थोड़ासा विचार करना इस लेखका मुख्य उद्देश्य है।

लक्ष्य ग्रंथों की विपुलता

पहले हमने परिस्थिति का निर्देश किया है। उसके अङ्गों का विचार करना अब आवश्यक है। इससे विषय सुस्पष्ट होगा। यह बात प्रसिद्ध है कि, काव्यादि साहित्य को लक्ष्य ग्रन्थ कहते हैं और नाट्यशास्त्र, काव्यालङ्कार आदि ग्रन्थ लक्षणग्रंथ कहलाते हैं। लक्षणग्रंथों का निर्माण सदा लक्ष्यग्रंथों के निर्माण पर निर्भर होता है। लक्षणग्रंथों में लक्ष्यग्रंथों के आधार पर कुछ नियमों का प्रतिपादन होता है। अब यदि लक्ष्यग्रंथों का निर्माण ही न हो तो समीक्षा किसकी की जाए? और यदि समीक्षा ही न हो तो तत्त्वसम्पदा का निर्माण कैसे हो? अतएव पहले लक्ष्यग्रन्थ निर्माण होते हैं और तदनन्तर लक्षणग्रन्थ। यह नियम सार्वभौम है। संस्कृत भाषा में निबद्ध साहित्य को भी यह नियम लागू है। संस्कृत भाषा में एक ओर लक्ष्यग्रंथों की रचना हो रही थी तो दूसरी ओर उनकी समीक्षा के आधार पर लक्षणग्रन्थों की सिद्धि हो रही थी। इस प्रकार लक्ष्य एवं लक्षण ग्रन्थों का निर्माण एक साथ हो रहा था। यह तथ्य अग्रिम विवरण से स्पष्ट हो जाएगा कि दोनों प्रवाहों की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहार में भी उल्लेखनीय साम्य था। भरत, भामह, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, कुन्तल, क्षेमेन्द्र, मम्मट, विश्वनाथ और जगन्नाथ भारतीय संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख तत्त्वविवेचक माने जाते हैं। इनमें से प्रत्येक का कार्य महत्त्वपूर्ण होकर उनके नाम से कोई न कोई सिद्धान्त संलग्न है। भरत से लेकर क्षेमेन्द्र तक के समय में काव्यशास्त्र में प्रसिद्ध सैद्धान्तिक विचारधाराएँ उत्पन्न हुईं, उन पर आक्षेप हुए और उनका निराकरण भी हुआ। परस्पर-विरुद्ध सैद्धान्तिक विचारों का बड़ा संघर्ष इस काल में हुआ और क्षेमेन्द्र के समय में यह वैचारिक आँधी शान्त हुई। तत्पश्चात् विभिन्न विचारधाराओं के संकलन एवं व्यवस्थापन का कार्य आरम्भ हुआ। मम्मट और विश्वनाथ ने इस कार्य की सिद्धि में सफलता पायी और जगन्नाथ ने अवशिष्ट विरोधकों को पराभूत कर काव्यशास्त्र को स्थिरता प्रदान की। संस्कृत काव्यशास्त्र का यह

विकास संस्कृत काव्यादि साहित्य के विकास का समकालिक था। अश्वघोष, भास, शूद्रक, कालिदास, भवभूति, हर्ष, विशाखदत्त, मुरारि, राजशेखर, कृष्णमिश्र, जयदेव प्रभृति नाटककारों, पाणिनि, वररुचि, कालिदास, भट्टि, भारवि, माघ, कुमारदास, रत्नाकर, क्षेमेन्द्र, कृष्णदास आदि कवियों, अगणित स्तोत्रकर्ताओं एवं गद्यलेखकों का साहित्य-निर्माण कार्य ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी से ईसा के बाद सत्रहवीं शताब्दी तक निरन्तर चालू था। इस प्रकार संस्कृत भाषा में जिस कालावधि में लक्षणग्रन्थों का प्रणयन हो रहा था, उसी कालावधि में गुणालङ्कारों से मण्डित, नवरसरुचिर, विविध विषयोंपर आधृत, रचना की विदग्धता से आकर्षक, गद्यपद्योभयात्मक एवं श्रव्यदृश्यात्मक लक्ष्यग्रन्थों की निर्मिति भी हो रही थी। विदग्धगोष्ठियों में रसिक काव्यों का आस्वादन किया करते थे। रंगमंचों पर प्रेक्षक नाटकों के प्रयोगों को देखकर आह्लादित होते थे। परन्तु, मेघदूत जैसे किसी काव्य की अथवा शाकुन्तल जैसे किसी नाटक की अथवा हर्षचरित जैसे किसी गद्यरचना की गुणदोषपरीक्षा करने की, उसमें निहित सौन्दर्य का विश्लेषण करने की और तज्जन्य आनंद की मीमांसा करने की इच्छा किसी भी काव्यशास्त्रज्ञ को नहीं हुई। यह बात जितनी आश्चर्यजनक है, उतनीही विचारणीय है।

रसास्त्रदक भी उपस्थित

अब परिस्थिति की अनुकूलता के अन्य अङ्ग का परामर्श करना है। नाटकों के प्रयोगों के प्रेक्षण हेतु तज्ज्ञ एवं रसिकवर्ग उपस्थित होता था इसका प्रमाण भरतमुनि के वचनों के अतिरिक्त कालिदास की 'आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।' इस प्रसिद्ध उक्तिमें भी मिलता है। दृश्य काव्यों के समान श्रव्य काव्यों का निर्माण भी सहृदयसापेक्षही रहा करता था। दण्डीने अपने 'काव्यलक्षण' ग्रन्थ में विदग्धगोष्ठी का निर्देश स्पष्टतया किया है।[3] राजशेखर के द्वारा अरोचकी, सतृणाभ्यवहारी, मत्सरी और तत्त्वाभिनिवेशी इन चार प्रकारों के भावकों का उल्लेख किया गया है। विदग्ध एवं परिणतप्रज्ञ सहृदयों का अभिप्राय काव्यक्षेत्र में अपना महत्त्व रखता था यह बात

"न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न वर्ज्यते।
यद्यपात्तेषु सम्पत्तिराराधयति तद्विदः॥"[4]

इस दण्डी-वचन से स्पष्ट होती है। सभी काव्यशास्त्रकार इस बातसे सहमत थे कि, काव्य-कला के क्षेत्र में विदग्ध रसिक का अभिप्राय ही अन्तिम एवं निर्णायक होता है। परन्तु, उन काव्यप्रेमी रसिकों के परितोष के लिए किसी भी शास्त्रकार के द्वारा 'शाकुन्तलम्: एक समीक्षा,' 'शिशुपालवधम्: एक सहृदय अध्ययन' इस प्रकार के ग्रन्थप्रबन्ध की रचना कभी भी नहीं हुई। राजशेखर के कथन के अनुसार उस समय में मत्सरी भावक भी थे। उनमें से भी किसी को किसी कवि के काव्य को 'ध्वस्त' करने की इच्छा से भी उक्त प्रकार के प्रबन्ध का निर्माण करने की प्रेरणा नहीं हुई, यह बड़े ही आश्चर्य की बात है।

काव्यके अध्ययन की परम्परा

प्राचीन समय में पाठशालाएँ तथा नालन्दा जैसे विश्वविद्यालय आदि मुख्य शिक्षासंस्थाएँ थीं। उनमें पढ़ाये जानेवाले पाठ्यक्रम, आजकल के पाठ्यक्रमों से स्वाभाविकतया भिन्न थे। व्याकरण, न्याय, मीमांसा आदि विषयों के साथ-साथ अलंकार-काव्य-प्रभृति विषयों का भी अध्ययन होता था। काव्य के अध्येताओं का परिचय महाकाव्य, नाटक, चम्पू, आख्यायिका, कथा आदि विविध साहित्यप्रकारों से अपने आप हो जाता था। इनको टीकाटिप्पणी-भाष्य-विवरणों के साथ अलंकारशास्त्र का अध्ययन भी करना पड़ता था। परीक्षा में अध्येता को काव्य का निर्माण करना पड़ता था और साहित्यशास्त्र के शास्त्रार्थ में भी भाग लेना पड़ता था। पाठशालाओं तथा विद्यापीठों में होनेवाले कविसम्मेलनों में उसे समस्यापूर्ति के लिए काव्य की रचना करनी पड़ती थी। तात्पर्य, काव्य का अध्ययन करनेवाला छात्र काव्यशास्त्र के प्रमुख आकर ग्रन्थों का पूर्ण ज्ञान रखनेवाला, काव्य की गुणदोषसमीक्षा की पद्धति से सम्यक्तया परिचित एवं निर्दोष काव्यप्रणयनमें प्रवीण अवश्य रहा करता था। उसमें यद्यपि नैसर्गिकी प्रतिभा नहीं रहती थी, तथापि बहुश्रुतता और अभियोग की सहायता से वह विदग्धगोष्ठी में सम्मिलित होने का अधिकारी होता था। इस प्रकार काव्य एवं काव्यशास्त्र के अध्ययन की परम्परा प्राचीन युगमें विद्यमान थी। यह सब होते हुए भी उस समय में कोई भी अध्येता स्वगृहीत शास्त्रज्ञान के उपयोजन की बुद्धि से प्रेरित होकर, उच्च तत्त्वाभिनिवेश से अनुप्राणित होकर अथवा नई समीक्षाप्रणाली का प्रारम्भ करने की इच्छासे अनुप्रेरित होकर किसी काव्यकृति के सविस्तर एवं विवेचनात्मक अध्ययन को ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत न कर सका। अध्ययन-अध्यापन के मध्य में गुरुजन, शिष्यों की नई रचनाओं के गुणदोषों को निश्चयही दिग्दर्शित करते होंगे, किन्तु इस परिपाटी ने भी किसी छात्र को उपर्युक्त समीक्षाप्रधान स्वतन्त्र ग्रन्थप्रणयन में प्रेरित किया हो, ऐसा प्रतीत नहीं होता है।

एतावता, काव्य के रसास्वादन की कला के प्रतिष्ठापन एवं विकसन के लिए परिस्थिति सर्वथा अनुकूल थी। गद्य तथा पद्य में बिपुल प्रौढ़ साहित्य का निर्माण हो रहा था। कोई स्फुट काव्यों की रचना कर रसिकों का रंजन कर रहा था, तो कोई रामायण-महाभारताश्रित महाकाव्यों के निर्माण में दत्तचित्त एवं निमग्न था। कोई कल्पित कथा सिद्ध कर रहा था, तो कोई ऐतिहासिक घटनाओं को साहित्य का रमणीय रूप प्रदान कर रहा था। कोई लौकिक तथा सामाजिक विषयों को औपरोधिक भाषा में साकार करने का सफल प्रयत्न कर रहा था, तो कोई 'त्रैगुण्योद्भवलोकचरित' को शब्दाङ्कित कर रहा था। उधर कोई काव्यगत अलंकारों की परिसंख्या कर रहा था, तो और कोई रसचर्चा में प्रवृत्त होकर काव्य के आत्मतत्त्व के गम्भीर चिन्तन में तन्मय हुआ था। कोई साहित्य के प्रभेदों का विवेचन करने में मस्त था, तो कोई 'भावि काल के कवियों' को उपदेश कर

रहा था। सहृदय रसिक प्रेक्षक आज 'मृच्छकटिकम्' तो कल 'रत्नावलि' और परसों 'वेणीसंहारम्' नाटक के प्रयोगों का अवलोकन कर 'सद्यःपरनिर्वृति' का अनुभव कर रहे थे। वहाँ कहीं कविसम्मेलन हो रहा था। उसमें परिमल नामक कोई कवि अपने मुक्तकों को सुनाकर रसिकों को आह्लादित कर रहा था तो कोई शब्द-कवि अपने चित्र काव्यों को सुनाकर उन्हें चकित कर रहा था। थोड़ी ही दूरी पर गुरुकुल में शिष्यगण रघु-कुमारों का पठन कर रहे थे, तो और कहीं कोहल-भामहों के ग्रन्थों के 'पाठ' चल रहे थे। संक्षेप में, काव्य के पठन, गायन, आस्वादन, विवेचन एवं चिन्तन से पूरा वातावरण व्याप्त था और इतना होने पर भी रसिक मण्डली के बीच कोई 'प्रियदर्शिका: एक समीक्षा', 'मेघदूतम् : एक चिन्तन' अथवा 'शाकुन्तलम् : एक विवेचक अध्ययन' हाथ में लिए हुए सामने नहीं आ रहा था, यह वस्तुस्थिति है।

इस समस्या का उत्तर विचक्षण पाठक स्वयं ही खोजें।

अङ्कनिर्दिष्ट सन्दर्भ

१ द्रष्टव्य—'सरितामिव प्रवाहास्तुच्छाः प्रथमं यथोत्तरं विपुलाः।
ये शास्त्रसमारम्भा भवन्ति लोकस्य ते वन्द्याः॥'
राजशेखर, काव्यमीमांसा, (संपा०) मधुसूदन मिश्र, बनारस, १९३४, पृ० २६

२. कतिपय ग्रन्थोंपर एकाधिक टीकाएँ लिखीं गई थीं। उन सब की परिगणना यदि की जाए तो ग्रन्थों की कुल संख्या सहस्र की सीमा तक पहुँच जाएगी। केवल 'काव्यप्रकाश' पर ही ७५ से अधिक टीकाएँ लिखीं गईं थीं, यह बात ध्यान देने योग्य है।

३. द्रष्टव्य—'तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमाः विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥'
दण्डी, काव्यलक्षणम्-संपा० अनन्तलाल ठक्कुर एवं उपेन्द्र झा, दरभंगा, १९५७ पृ० ६०

४. तत्रैव पृ० १४

ग्रन्थकार की अन्य कृतियाँ

मराठी

१. **कविकण्ठाभरण :**
वारांणसी, प्रथम संस्करण, १९६६ — रु० १·५०

२. **औचित्यसिद्धान्त आणि औचित्यविचारचर्चा :**
वाराणसी, प्रथम संस्करण, १९६६ — रु० ७-५०

३. **भारतीय काव्यशास्त्राची उत्क्रान्ति :**
वाराणसी, प्रथमावृत्ति, १९७० — रु० ५०-००

४ **मुक्तेश्वरकृत स्फुटकाव्ये :**
पुणे, प्रथमावृत्ति, १९७५ — रु० २०-००

५. **काव्य, शास्त्र व संस्कृति :**
वाराणसी, प्रथमावृत्ति, १९७६ — रु० २०-००

हिन्दी

१. महाकविक्षेमेन्द्रकृत **कविकण्ठाभरण :** प्रकाशक-मोतीलाल बनारसीदास, प्रथम संस्करण, १९६७ — मूल्य रु० २-००

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

के ३७/११७, गोपाल मन्दिर लेन, पो. बा. नं. १२९

वाराणसी–२२१००१ (भारत)